दर्शन-विज्ञान

(A Comparative Study of Science & Philosophy)

श्रीकृष्णकुमार सिंह

साहित्यरत्न (दर्शन शास्त्र)

हिन्दी विश्वविद्यालय, प्रयाग

['ईश्वर की अभिव्यंजना' के प्रणेता

तथा

अमेरिका-स्थित नोट्रेडम विश्वविद्यालय के धर्म-दर्शन के प्रोफेसर

रेवरेण्ड जॉन ए० ओ' ब्रेन, पी-एच्० डी, एल्० एल्० डी०

द्वारा लिखित 'God : Can we find Him ?' नामक पुस्तक के

हिन्दी रूपान्तरकार]

7 JUN 19

प्रकाशक

विश्व-साहित्य-प्रचारक

सामाजिक तथा सांस्कृतिक शिक्षा-केन्द्र

शान्ति-कुटीर, पो० बसन्त, सारन, बिहार (भारत)

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

इस पुस्तक के किसी अंश एवं संदर्भ को आलोचना के अतिरिक्त बिना प्रकाशक की स्वीकृति लिये छापना अपराध समझा जायगा।

★

18865

१९६०

प्रथम संस्करण

मूल्य ३)

★

मुद्रकः—बिहार को-ऑपरेटिव प्रेस सुसाइटी लि०, पटना–३

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक में विश्व के प्रमुख दार्शनिकों के तात्त्विक विचारों तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों के क्रमिक विकास को राष्ट्रभारती हिन्दी में अभिव्यञ्जित करने का प्रयास किया गया है। दर्शन और विज्ञान दोनों का निश्चित उद्देश्य सत्य का अन्वेषण ही है। यदि दर्शन विश्व-व्यापी समग्र सत्य का विवेचन करता है तो विज्ञान उसके ही अंश भूत भौतिक तत्त्व को अपने निरीक्षण एवं परीक्षण के आधार पर निर्धारित कर सत्य का ही प्रत्यक्षीकरण करता है। विश्व के दार्शनिक इतिहास के गम्भीर चिन्तन के पश्चात् जो अन्तिम निष्कर्ष निकलता है, वह यही है कि प्रत्येक देश के दार्शनिकों ने अपने-अपने देश, काल और परिस्थिति के अनुसार एक ही परम तत्त्व को चाहे स्थूल भौतिक-तत्त्व में या शक्ति-तरङ्ग में, विभिन्न पद्धतियों द्वारा उसे ही निरूपित करने का प्रयास किया है। 'एकमेव अद्वितीयम्। एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। एकम् सन्ता वहुधा कल्पयन्ति' (ऋग्वेद)। भारत का षड्दर्शन 'Six Systems of Philosophical thought' तथा यूरोप की दार्शनिक विचार धारा के क्रमिक विकास इसके प्रमाण हैं।

समस्त भौतिकपदार्थ गतिशील एवं परिवर्त्तनीय हैं। उनके बाह्य आकार कालक्रम से परिवर्त्तित होते रहते हैं।

अधिभूतं क्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञो अहम् एवोत्र देहेदेहभृतां वर॥

—गीता

आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक, इन विधि तापों से मुक्ति दिला कर जीवात्मा को सनातन आनन्द के निच्छल अजस्र-स्रोत से संयुक्त कराना ही दर्शन का प्रमुख उद्देश्य कहा है।

आधुनिक आणविक-शक्ति के वैज्ञानिक युग में मानव अपने को आत्म-संहार से बचा सकने में तभी समर्थ हो सकता है जब वह अपने बन्धु-बान्धव के साथ प्रेम तथा अहिंसा का वर्ताव करने लग जाय। आधुनिक विश्व के सम्मुख अहिंसा का अमोघ उदाहरण प्रस्तुत करने में महावीर तीर्थङ्कर, बुद्ध तथा गांधी के प्रति भारत का महान् उत्तरदायित्व है। गम्भीर उत्तेजना के सम्मुख भी भारत को अहिंसा का पालन करना ही होगा। भारत के ऊपर एक बहुत बड़ा आध्यात्मिक उत्तरदायित्व है। वर्तमान का सर्वोत्तम क्रिया-कलाप ही काल का वह अनन्त अंश है, जो महान् भूत तथा उज्वल भविष्य का निर्माण करता है।

इस बीसवीं शताब्दि के पूर्वार्द्ध ही में मानवता दो भीषण-युद्ध विश्व की दावाग्नि में झुलस चुकी है तथा उतरार्द्ध में विश्व

के दो प्रतिद्वन्द्वी आदर्शों की व्यापक स्पर्धा की विषम परिस्थिति में भारत सन्तुलन का काम कर रहा है। अर्थात व्यक्ति प्रधान जनतन्त्र तथा समष्टि प्रधान जनतन्त्र इन दो प्रतिद्वन्द्वी आदर्शों के मध्य से एक तीसरे प्रकार के जनतन्त्र का भारत में निर्माण हो कहा है, जिसमें वैयक्तिक तथा सामूहिक जनतन्त्रों का सामञ्जस्य है। सामञ्जस्य एवं समन्वय ही भारतीय संस्कृति का एक सनातन तथा विशिष्ट गुण रहा है।

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददातियत्।
यत तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥

—गीता

जो कुछ करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ यज्ञ करो, जो कुछ भी दान दो, जो कुछ भी तुम इष्ट सिद्धि के लिए कष्ट सहो, सब को तुम, मुझ सनातन ईश्वर को ही अर्पण कर दो।

विषय–सूची

१.	ईश्वर की वैज्ञानिक महत्ता	१
२.	विज्ञान के द्वारा सत्य का साक्षात्कार	५
३.	भारतीय दार्शनिक चिन्तन धारा का क्रमिक विकास	६
४.	भारत के मूल षड्दर्शन और ईश्वर, वैशेषिक दर्शन	१५
५.	न्याय दर्शन	१८
६.	सांख्य दशन	२१
७.	योग-दर्शन	३४
८.	मीमांसा-दर्शन	४४
९.	वेदान्त-दर्शन	४८
१०.	यूरोपियन दार्शनिक चिन्तन-धारा के क्रमिक विकास	७३
११.	विश्व व्यापी नैतिकता का प्रतीक यूनान के प्रमुख दार्शनिक 'प्लेटो'	७९
१२.	विज्ञान के संस्थापक अरस्तू	८२
१३.	यूनान के संशयवादी	८६
१४.	अट्ठारहवीं शताब्दि के विज्ञानवादी दार्शनिक	८८
१५.	उन्नीसवीं शताब्दि के वैज्ञानिक परीक्षणवादी जर्मन दार्शनिक	९२
१६.	उन्नीसवीं शताब्दि के वैज्ञानिक अद्वैतवादी दार्शनिक हेगल	९८

१७. इच्छा शक्ति (will power) की प्रबलता से ही विश्व-विकास १०१
१८. चार्ल्स डार्विन का भौतिकवादी शारीरिक विकासवाद १०५
१९. बीसवीं शताब्दि के प्रत्ययवादी दार्शनिक एफ० एच० ब्रेडले १०९
२०. बट्रेण्ड रसल १११
२१. राजनीतिक विकास में दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों की मान्यवताएं ११३
२२. प्राचीन एवं अर्वाचीन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद १२३
२३. अत्याधुनिक वैज्ञानिक प्रगतियाँ १२९
२४. भारतीय संस्कृति के समन्वयवाद की विशिष्टता १३९

ईश्वर की वैज्ञानिक महत्ता

ईश्वर के विषय में तथा अपने ही अस्तित्व के मूल केन्द्र 'स्व' के विषय में अन्वेषण करना, दोनों में कोई अन्तर नहीं है। हम कौन हैं? कहाँ से किसलिए आये हैं? उत्पन्न होने के पूर्व भूतकाल में, उत्पन्न होकर वर्त्तमान में तथा मरने के पश्चात् हमारे अस्तित्व के मूलाधार 'स्व' की स्थिति किस रूप में रहती है। सृष्टि-प्रक्रिया सोद्देश्य है या निरुद्देश्य अथवा केवल भौतिक तत्त्वों का आकस्मिक संगठन-मात्र ही? इस विश्व का जो मूल द्रव्य है, वह चेतन है या अचेतन?

विश्व के चेतन जीवधारियों में मानव सर्वाधिक चैतन्यशक्ति-सम्पन्न तथा बौद्धिक सत्ता-प्राप्त है। आज के इस वर्त्तमान वैज्ञानिक विश्व के समक्ष सृष्टि का मौलिक तत्त्व 'ईश्वर' अपने स्वरूप के यथार्थ स्पष्टीकरण के लिए प्रश्नवाचक चिह्न है। अत्याधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप मानव जल में, थल में, नभ में अणु-शक्ति द्वारा एक ही यान को समान प्रचण्ड गति से संचालित कर रहा है। यहीं तक नहीं, दूर-सुदूर के ग्रह-नक्षत्रों की जानकारी के लिए अन्तर-ग्रहीय अनन्त-अन्तरिक्ष-भेदी यान भी भेजे जा रहे हैं।

देश (स्पेस) तथा काल (टाइम) पर भी अंशतः वैज्ञानिक प्रभुत्व मानव को प्राप्त हो चुका है। विश्व की विशाल परिधि

की अल्पाति-अल्प समय में ही परिक्रमा की जा रही है। विश्व एक परिवार बन चुका है। यह सर्वविदित है कि पाताल-लोक अमेरिका में यदि सात बजे सन्ध्या है, तो भारत में सात बजे प्रातःकाल रहता है। दूरी का इतना विशाल व्यवधान रहने पर भी अत्याधुनिक वैज्ञानिक साधनों द्वारा विचारों एवं चित्रों को क्षण में ही विश्व-व्यापी बनाया जा रहा है। पदार्थ के सब से सूक्ष्म तत्त्व अणु तथा उससे भी सूक्ष्म परमाणु में आश्चर्य-जनक कार्यवाही देखी जा रही है। परमाणु-भंजक यन्त्रों के द्वारा द्रव्य के परमाणुओं को तोड़कर उसके रहस्य को आधुनिक भौतिक वैज्ञानिक देख रहे हैं। एक परमाणु का कार्य-क्षेत्र अपने में उतना ही बड़ा है, जितना सौर-जगत् से सम्बद्ध ग्रहों का सूर्य से सम्बन्ध रहता है। जिस प्रकार बड़े-बड़े ग्रह-नक्षत्र सौर-मण्डल में ही सूर्य के चारों ओर प्रवाहित होते रहते हैं, उसी प्रकार एक परमाणु के मूल केन्द्र 'प्रोट्रोन' के चारों ओर वृत्ताकार रूप से 'एलेक्ट्रोन' नामक प्रकाश प्रचण्ड गति से चक्कर लगा रहा है। यह सत्य आज के वैज्ञानिकों द्वारा देखा जाकर कार्य में परिवर्त्तित हो रहा है।

अन्तरिक्ष के नक्षत्र-मंडलों में जो कार्यवाही हो रही है, उससे कहीं अत्यधिक उलझनपूर्ण कार्यवाही जगत् के सबसे सूक्ष्म तत्त्व परमाणु में हो रही है। परमाणु अपने कक्ष पर निःस्तब्ध एवं अकल्पनीय भयंकर प्रचण्ड गति से चक्कर काट रहे हैं। परमाणु का अपने में निश्चित नियम एवं गति है।

वही परमाणु में विकसित होकर तीन त्रसरेणुओं के संयोग से अणु बनता है, फिर क्रमशः पदार्थ बन मनुष्य के विकसित स्वरूप में अपने को प्रकट करता है। भारतीय तत्त्वज्ञानी इस तत्त्व को बहुत पहले ही साक्षात्कार कर चुके हैं। जगत् की परिवर्त्तनशीलता ने ही भारतीय तत्त्वज्ञानियों को व्यग्र कर उसे मौलिक तत्त्व 'ईश्वर' के अन्वेषण में अग्रसर किया। उन भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने अपनी दिव्य दृष्टियों द्वारा देखा कि जगत् के परिवर्त्तन के परे एक अपरिवर्त्तनीय परम तत्त्व है। भारतीय तत्त्वज्ञानी उस अपरिवर्त्तनीय परम तत्त्व को 'ईश्वर या ब्रह्म' के नाम से सम्बोधित करते हैं। ब्रह्म अद्वैत है। वह स्वयम्भू है। उसे किसी के बुद्धि-बल की अपेक्षा नहीं है। अपनी प्रज्ञा-शक्ति से उसने इन विश्व-ब्रह्माण्डों की रचना की है। रचयिता होने से उसे समस्त ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार है।

ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार होने से वह सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ होने से सर्व-व्यापक तथा सर्वव्यापक होने से वह सर्वशक्तिमान् भी है। वैदिक विभिन्न देवों में ब्रह्म की ही शक्ति सन्निहित है। उसी के भय से अनल एवं सूर्य तपते हैं। वह परिभू है। उसके शासन में किसी का हस्तक्षेप नहीं है। ऋग्वेद कहता है कि ब्रह्म को विश्व-ब्रह्माण्डों के शासन के लिए मन्त्रि-परिषद्, सेना और कर्मचारियों की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वह स्वयं ही 'अनन्त शीर्ष-पाणि-पाद-युक्त' है। उसका

शासन एकात्म है। एकात्म होने से ब्रह्म आप्तकाम है। आप्त-काम होने से वह 'भूमा' है। भूमा होने से ही वह अभोक्ता है। ऋग्वेद कहता है कि अभोक्ता के शासन का एकमात्र उद्देश्य प्राणिमात्र का पोषण ही है। एकमात्र पोषण के उद्देश्य (आदर्श) के संरक्षण के लिए ही वह ब्रह्म अविराम तप कर रहा है।

ब्रह्म की उसी तपस्या के परिणामस्वरूप सत्य और ऋत उद्भूत हुए हैं। ऋत सम्पूर्ण सृष्टि पर शासन करनेवाला विशाल नियम है। विश्व के प्रत्येक पदार्थ तथा उसकी क्रिया को ऋत के अधीन रखने के लिए विवश करनेवाली शक्ति का नाम सत्य है। ब्रह्माण्ड की प्रत्येक गति-विधि उसी ऋत और सत्य से प्रेरित एवं नियन्त्रित है। वैदिक विधान के अनुसार ऋत और सत्य का नियम अपरिवर्त्तनीय तथा अनुल्लंघनीय है। ऋत के नियमों में एकता एवं समता है। ऋग्वेद यह उद्घोषित कर कहता है कि ऋत के परिज्ञान से ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है। ऋत और सत्य के सुनियन्त्रण से ही समस्त विश्व-ब्रह्माण्डों में सुव्यवस्था रहती है। विश्व के प्रत्येक भू-भाग के दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों ने उसी ऋत और सत्य का अपने-अपने देश, काल और परिस्थिति के अनुसार प्रत्यक्ष किया है।

विज्ञान के द्वारा सत्य का साक्षात्कार

विज्ञान की उत्पत्ति जिज्ञासा से होती है। जिज्ञासा मन की वह विशेष प्रवृत्ति है, जो किसी वस्तु को यों ही स्वीकार नहीं करने देती, वरन् उसके युक्ति-युक्त कारण का पता लगाने के लिए प्रयत्न करती है। दर्शन और विज्ञान के सम्बन्ध के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि सभी विज्ञान दर्शन की ही सन्तान हैं।

दर्शनशास्त्र ही विभिन्न विज्ञानों का आदिस्रोत है। सम्प्रति तुलनात्मक अध्ययन से यह ज्ञात है कि दर्शनशास्त्र के उपांग-स्वरूप ही विभिन्न विज्ञानों के विभाग बने हैं और उन्होंने अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम कर लिया है।*

आज के प्रतिष्ठित अत्याधुनिक वैज्ञानिक यह मानने लगे हैं कि वैज्ञानिक चिन्तन की अन्तिम परिणति दर्शन में ही होती है। डॉ० हर्बर्ट डिङ्गल ने, जो भौतिक विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् हैं, अपनी पुस्तक 'थ्रू साइंस टू फिलॉसफी' में यह

*"The sciences are the children of the old Mother Philosophy. It is only recently, comparatively speaking, that the children have matured to a place of independence and set up their own several house holds" —V. Ferm.

[First adventures in Philosophy P. 24.]

दिखाने का प्रयत्न किया है कि यदि विभिन्न विज्ञान-मार्गों पर ठीक-ठीक चला जाय, तो इस यात्रा का अन्त दर्शन में ही होगा। सर जेम्स जीन्स, आइन्सटीन, सर आर्थर एडिङ्गटन, बर्ट्रेण्ड रसेल, ए० एन्० ह्वाइटहेड आदि अत्याधुनिक वैज्ञानिक विज्ञान की अन्तिम परिणति को दर्शन में ही देख रहे हैं।

दर्शन विज्ञान के निष्कर्षों के विभिन्न प्रकट विरोधों का, विश्व-व्यापी दृष्टिकोण द्वारा समन्वय करता है। विश्व को टुकड़ों में बाँटकर देखने के कारण कभी-कभी दो विभिन्न विज्ञानों के निष्कर्ष परस्पर-विरोधी सिद्ध हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि एक विशेष विज्ञान अपने क्षेत्र से बाहर देखता नहीं। उसे पता नहीं रहता कि उसका निष्कर्ष औरों के निष्कर्ष से किस प्रकार का विश्व-व्यापी सम्बन्ध रखता है। इसलिए अपने निष्कर्षों के परस्पर विरोध का त्याग विज्ञान नहीं कर पाता। विज्ञान के विभिन्न निष्कर्षों का विश्व-व्यापी दृष्टिकोण से समन्वय कर विश्व का सामञ्जस्यपूर्ण चित्र दर्शन ही प्रस्तुत करता है।

वस्तुतः दर्शन और विज्ञान दोनों एक दूसरे के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। दर्शन वैज्ञानिक उपलब्धियों (साइंटिफिक एचिवमेण्ट्स) को समस्त विश्व के प्रसङ्ग में उसकी सार्थकता को स्थिर रखता है। विभिन्न विज्ञानों की प्रगति का प्रभाव दर्शन पर तथा दर्शन की प्रगति का प्रभाव विभिन्न विज्ञानों पर निरन्तर पड़ता रहता है। 'दोनों एक दूसरे

की आलोचना करते हैं, तथा अपने लिए साधन प्रस्तुत करते हैं'। ❀

हेनरी बर्गसाँ, लायड मार्गन, ह्वाइटहेड, बर्ट्रेण्ड रसेल आदि वैज्ञानिकों की आधुनिक कृतियाँ दर्शन और विज्ञान के पारस्परिक प्रभाव के प्रत्यक्ष साक्षी हैं।

भारतीय दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन के अन्तर्गत विभिन्न विज्ञान दर्शन के सहायक हैं। पाश्चात्य तत्त्व-ज्ञानियों के जैसा भारतीय दार्शनिक तत्त्व-ज्ञान का विषय केवल मनोविनोद एवं आश्चर्योत्पादन के लिए ही नहीं है, वरन् सृष्टि के मौलिक तत्त्व का अन्वेषण द्वारा जीवन को मोक्ष की प्राप्ति कराना ही उसका अन्तिम उद्देश्य है।

आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन त्रिविध तापों से मुक्त कर परमब्रह्म के आनन्दमय स्वर्गीय संगीत में मानव-मात्र को निमग्न कराने के लिए ही भारतीय तत्त्व-ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ है। यहाँ ज्ञान के दो विभाग हैं—परा और अपरा। दर्शनशास्त्र को परा विद्या कहते हैं; क्योंकि वह परम सत्य का यथार्थ ज्ञान प्रदान करता है। ज्ञान की अन्य शाखाएँ जो परम सत्य तक नहीं पहुँच पातीं, वे अपरा विद्या के अन्तर्गत आती हैं। विभिन्न विज्ञान अपरा विद्या के

❀"Science and Philosophy mutually criticise each other and supply imaginative material for each other". —D. A. N. Whitehead]

अन्तर्गत ही आते हैं। विज्ञान का भी उद्देश्य जीवन को क्लेश-रहित करना ही रहता है, किन्तु उसे आंशिक ही सफलता मिलती है। विज्ञान मानव-दुःख के किसी विशेष अंश को ही दूर कर पाता है, दुःख-मात्र को नहीं; क्योंकि सत्य का सर्वाङ्ग-ज्ञान विज्ञान को नहीं होता, जो दुःख के पूर्ण विनाश के लिए आवश्यक है। दुःख का पूर्ण विनाश दर्शन ही करता है। जिस काम को विज्ञान आंशिक रूप में करता है, दर्शन उसका सर्वांशतः समन्वय कर विश्व का सामञ्जस्यपूर्ण रूप में उपस्थित करता है। विश्व को सम्पूर्णता में ग्रहण करने के कारण दर्शन की व्याख्या वैज्ञानिक व्याख्या से अधिक व्यापक एवं सामञ्जस्यपूर्ण होती है। विज्ञान पदार्थों की व्याख्या नहीं करता, वरन् उसका वर्णन-मात्र करता है। पदार्थों की वैज्ञानिक व्याख्या केवल 'कैसे' (हाउ) का ही उत्तर देती है 'क्यों' (ह्वाइ) का नहीं। जब तक 'क्यों' का उत्तर नहीं मिलता, तब तक तत्त्व की अन्तिम व्याख्या नहीं हो सकती। दर्शन इसी 'क्यों' का उत्तर देता है। इसलिए दर्शन की व्याख्या पूर्ण एवं अन्तिम (फाइनल) होती है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन-धारा का क्रमिक विकास

ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन समय से ही भारतीय तत्त्व-चिन्तन की दो दार्शनिक विचार-प्रवृत्तियाँ रहती आई हैं। प्रथम प्रवृत्ति, प्रतिभा या प्रज्ञामूलक (इट्युनिष्टिक) है, जो तत्त्वों का विवेचन प्रतिभा द्वारा ही करती है। द्वितीय, प्रवृत्ति तर्कमूलक (रेशनलिष्टिक) है, जो तत्त्वों का विवेचन तार्किक बुद्धि से करती है। ऋग्वेद का ऋषि अपनी प्रज्ञामूलक प्रतिभा से जगत् के मूलतत्त्व की व्याख्या करते हुए अद्वैत तत्त्व को खोज निकालता है तथा यह कह उठता है 'अनीदवातं स्वधया तदेकम्', सृष्टि के आदि में एक तत्त्व वायु के बिना ही अपनी शक्ति से जीवित था।

तो, तर्कमूलक प्रवृत्ति से दूसरा ऋषि कह उठता है कि 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्', मानव, तुम लोग आपस में मिलो, किसी विषय पर परस्पर विवेचन करो तथा एक दूसरे के हृदय में स्पन्दित भावों को समझने का प्रयास करो, जिससे वह परम सत्य प्रत्यक्ष होगा। वैदिक युग में इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों की मान्यता थी। काल-क्रम से प्रज्ञामूलक तथा तर्कमूलक इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों के पारस्परिक संयोग से उपनिषदों की उत्पत्ति हुई।

उपनिषद्-प्रतिपादित तत्त्व-ज्ञान की अंतिम परिणति

'तत्त्वमसि' महावाक्य में ही सन्निहित थी। इसी मंत्र के द्वारा उपनिषद् का ऋषि डंके की चोट उद्घोषित करता है कि 'त्वम्' (जीव) तथा 'तत्' (ब्रह्म) में पूर्ण एकता है।

पर समस्या यह प्रस्तुत थी कि उस परम तत्त्व का प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया कैसे जाय? उसी समस्या के सम्यक् समाधान के लिए कालान्तर में भारतीय तत्त्व-ज्ञानियों ने षड्दर्शनों की रचना की। षड्दर्शनों का तत्त्वज्ञान भारतीय दार्शनिक चिन्तन-धारा के वे विभिन्न षड् दृष्टिकोण हैं, जो एक ही सत्य का क्रमिक विवेचन कर उसका तात्त्विक स्पष्टीकरण करते हैं।

वैशेषिक दर्शन के आरम्भवाद के समय में जीव और जगत् के यथार्थ तत्वज्ञान के लिए भौतिक पदार्थों की छानबीन आरम्भ हुई। आत्मा तथा भौतिक पदार्थों के गुणों की स्पष्ट विवेचना के लिए ही वैशेषिक-दर्शन की उत्पत्ति हुई। वैशेषिक-दर्शन चेतावनी देता है कि प्रत्येक सफल दार्शनिकों के लिए सर्वप्रथम वैज्ञानिक होना अत्यावश्यक है तथा उन्हें भौतिक तत्त्वों के गुणों (मैटर ऑव क्वाण्टिटी विद क्वालिटी) की जानकारी होना नितांत आवश्यक है।

अतः दार्शनिक होने के लिए वैज्ञानिक होना पहली शर्त है। आरम्भवाद के समय में जन-प्रवृत्ति भौतिक तत्त्वों का परिच्छेदन कर उसके रूप एवं गति के अनुसंधान में ही रत रही। बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों एवं प्रयोगशालाओं के द्वारा भौतिक द्रव्यों के सूक्ष्म रूप अणु एवं परमाणु पर गम्भीरता-

पूर्वक अन्वेषण होता रहा। परन्तु, भौतिक तत्त्वों का यथार्थ विवेचन क्रमिक पद्धति एवं निश्चित नियमों के अभाव में सम्यक् रूप से नहीं हो रहा था। इसी कमी की पूर्त्ति के लिए भौतिक तत्त्वों के शास्त्रीय पद्धति से अध्ययन के निमित्त ही न्याय-दर्शन की उत्पत्ति हुई। न्याय-दर्शन की क्रमिक तार्किक पद्धति एवं उसके निश्चित नियमों के द्वारा भौतिक द्रव्यों का विवेचन सर्वव्यापक हुआ। भारतीय तत्त्व-ज्ञान की आधार-शिला न्याय-दर्शन उद्घोषित कर यह कहता है कि कोई भी वैज्ञानिक एवं दार्शनिक निष्कर्ष न्याय-निर्णीत अपरिवर्त्तनीय निश्चित नियमों के अभाव में चिरस्थायी हो नहीं सकता। वैशेषिक-दर्शन द्रव्य के केवल रूप एवं गुणों की ही व्याख्या करता है, तो न्याय-दर्शन वैशेषिक के द्रव्य एवं उसके गुणों को स्वीकार करते हुए उससे आगे भौतिक द्रव्यों के सोद्देश्य नियामक को खोज निकालता है। न्याय-दर्शन द्रव्यों के नियमों में उसके नियामक का दर्शन करता है। वैशेषिक एवं न्याय दोनों ही आत्मा को सगुण तथा सक्रिय मानते हैं। इन दोनों दर्शनों को आरम्भवाद या असत्कार्यवाद के नामों से पुकारा जाता है। इस मत से असत् से सत् की उत्पत्ति हुई है। वैशेषिक-दर्शन निरीश्वरवादी है, तो न्याय-दर्शन सेश्वरवादी।

वैशेषिक एवं न्याय-दर्शन के पश्चात् कपिल का सांख्य-दर्शन आता है। सांख्य-दर्शन के अनुसार सत्य से सत्य की उत्पत्ति होती है। इसके अनुसार कोई भी नई वस्तु की

उत्पत्ति नहीं होती, वरन् कारण से कार्य तथा कार्य से कारण नियमित रूप में आवर्त्तित होता रहता है। जो मूल में था ही नहीं, उससे जो यह जगत् है, हो नहीं सकता। अर्थात्, मूल में जो सत्य वस्तु थी, उससे ही इस सत्य दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति हुई है।

इस दर्शन को सत्कार्यवाद या परिणामवाद भी कहते हैं। जब तक पुरुष और प्रकृति दूसरे शब्दों में जीव और भौतिक जगत् के परस्पर सम्बद्ध गुणों को ठीक-ठीक जान नहीं लिया जाता, तब तक उसे यह जगत् कुछ-का-कुछ भासित होता ही रहेगा। किन्तु, जब प्रकृति और पुरुष की एकता को मानव सम्यक् रूप से जान लेता है, तब उसे तत्-त्वम् की एकता पूर्ण रूप से ज्ञात हो जाती है।

कुछ समय बाद, सांख्य-प्रतिपादित केवल बौद्धिक ज्ञान को व्यावहारिक रूप से प्रत्यक्ष करने के लिए योग-दर्शन की उत्पत्ति हुई। इस दर्शन के ध्यान, धारण एवं समाधि की व्यवस्था द्वारा मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। चित्त की वृत्तियों के नियन्त्रित होने पर उस चित्त में निहित अनन्त दैवी शक्तियों का प्रस्फुटन होता है। समाधि की अवस्था में मनुष्य ही केवल ईश्वर तक नहीं पहुँचता, वरन् ईश्वर भी मनुष्य के पास आ पहुँचता है। ऊँचाई पर पहुँचने से ब्रह्म निराकार ही दिखाई देता है। उससे नीचे वह साकार होता है। वास्तविकता यह है कि जब तक मनुष्य अपने आप तक नहीं

पहुँचता, अर्थात् जब तक वह अपने स्वरूप को नहीं पहचानता, तब तक उसकी ईश्वर तक पहुँचने की कल्पना ही व्यर्थ है। ईश्वर सभी स्थल पर है, किन्तु सभी स्थल मनुष्य के भीतर हैं नहीं। मनुष्य के भीतर तो वह एक ही बिन्दु है, जहाँ ईश्वर उससे बात कर सकता है। और वह बिन्दु उसकी आत्मा के केन्द्र में अवस्थित है। उसी बिन्दु पर ईश्वर हमारी प्रतीक्षा करता है, वहाँ ही वह अपना दर्शन देता है। सांख्य-दर्शन विश्व-प्रक्रिया को अपने में ही पूर्ण बताकर ईश्वर को तर्क से असिद्ध मानता है, तो योग-दर्शन-भौतिक द्रव्यों के नियमों में उसके नियामक से अनुप्राणित स्पन्दन को प्रत्यक्ष करता है। सांख्य और योग एक ही तत्त्व के दो पंख हैं।

काल-क्रम से सांख्य और योग के क्रिया-कलापों से विक्षुब्ध होकर जनमानस की प्रवृत्ति वेदों की ओर लौट जाने की हुई। उस समय के दार्शनिक वेद में वर्णित कर्मकाण्ड की सूक्ष्म विवेचना पर जोर देने लगे। फिर क्या था, कर्म काण्ड पर सूक्ष्म विवेचना प्रारम्भ हुई, जिसके परिणामस्वरूप मीमांसा-दर्शन प्रकट हुआ, किन्तु मनुष्यों की आध्यात्मिक तृप्ति केवल कर्मों की उपासना से हो नहीं सकी। इसलिए वेदों में वर्णित ज्ञानकाण्ड की विवेचना प्रारम्भ हुई, जिसके फलस्वरूप वेदान्त-दर्शन की उत्पत्ति हुई। अतः उपनिषद् के मुख्य सिद्धान्त के अनुसार जल से भिन्न तरङ्ग का अस्तित्व नहीं है, वरन् तरङ्ग जल का ही विवर्त्त है। इस सिद्धान्त को विवर्त्तवाद कहते हैं।

अर्थात्, ब्रह्म से उत्पन्न यह जगत् ब्रह्ममय ही है। अतः उपनिषद् के मुख्य सिद्धान्त 'तत्त्वमसि' महावाक्य की यथार्थ व्याख्या करने के लिए ही षड्दर्शनों की उत्पत्ति हुई है। षड्दर्शनों का तात्त्विक विवेचन क्रमशः सीमित सत्य से असीमित सत्य की ओर अग्रसर होने का वैज्ञानिक प्रयास है। वैशेषिक-दर्शन एवं न्याय-दर्शन के आरम्भवाद का सिद्धान्त मन्दाधिकारी, अर्थात् जिनकी दृष्टि पदार्थ-ज्ञान से आगे नहीं बढ़ी है, उनके ही लिए है, किन्तु जिनकी बुद्धि पदार्थ-ज्ञान को पार कर सांख्य और योग के सिद्धान्तानुसार चैतन्य पर पहुँच चुकी है, वे मध्यमाधिकारी हैं। वेदान्त के सार्वभौमिक समीचीन सिद्धान्त विवर्त्तवाद के तात्विक-ज्ञान के लिए तो उत्तमाधिकारी की ही आवश्यकता होती है।

भारत के मूल षड्दर्शन और ईश्वर

१. वैषेशिक-दर्शन

वैशेषिक-दर्शन के निर्माता कणाद के सिद्धान्तानुसार इस विश्व का मूल पदार्थ परमाणु है। किसी वस्तु के सबसे सूक्ष्म भाग का नाम अणु है तथा उससे भी जो सूक्ष्म है, उसे ही परमाणु कहते हैं। परमाणुओं के संयोग से ही इस विश्व एवं इसके समस्त पदार्थों की उत्पत्ति हुई है। दो परमाणुओं के मिलने से द्व्यणुक तथा तीन द्व्यणुकों के मिलने से त्र्यणुक बनकर पदार्थों का निर्माण होता है। इस पद्धति से विश्व के समस्त पदार्थ बनते रहते हैं। कणाद के अनुसार नव द्रव्य नित्य हैं तथा उन्हीं से इस विश्व की उत्पत्ति हुई है। वे नव द्रव्य हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। अर्थात्, इन द्रव्यों के मूल परमाणु नित्य तथा अविनाशी हैं। आज के भौतिक विज्ञान का भी यही सिद्धान्त है कि विश्व के मौलिक द्रव्य स्वयं-चालित एवं अविनश्वर हैं। वे मौलिक द्रव्य अपने गुण के अनुसार निरन्तर प्रवाहित होकर आकार धारण करते हैं तथा पदार्थों के स्वयं गतिशील होने के कारण उनका आकार स्थायी नहीं रहता। अर्थात्, तत्त्व से निर्मित आकार विनश्वर है, किन्तु पदार्थ (तत्त्व) स्वयं अविनश्वर है।

भारतीय तत्त्वज्ञानी पदार्थ की अविनश्वरता एवं उसकी

स्वयं-चालित गतिशीलता से, अपनी दार्शनिक प्रवृत्ति के प्रारम्भ काल से ही, परिचित हैं। कणाद ने नवों द्रव्यों के परमाणुओं को नित्य और अनित्य दोनों कहा है।

नित्य इस अर्थ में कि द्रव्य स्वयं अविनाशी है। द्रव्य के गुणों के विस्तार से जो आकार या रूप निर्मित होता है, वही आकार या रूप अनित्य है। जो दृश्य वस्तु है, वह अनित्य है, अर्थात् वह काल-क्रम से द्रव्य के आकार को विच्छिन्न कर स्वयं अपने अविनाशी रूप में पहुँच जाती है। किन्तु, जिस परमाणु ने संघटित होकर द्रव्य का रूप धारण नहीं किया है, वह अपने स्वरूप में ही स्वयं-चालित एवं नित्य है। इस तरह परमाणुओं की दो अवस्थाएँ हुईं। एक वह, जो अन्तरिक्ष के वायु-मण्डल में नित्य परमाणुओं के साथ स्वयं-चालित गति से परिभ्रमण कर रहा है तथा दूसरी, परमाणुओं की संघटित अवस्था है, जो पृथ्वी के रूप में परिलक्षित होती है। पृथ्वी के परमाणु भी काल-क्रम से अपने नित्य स्वरूप में परिभ्रमण करनेवाले परमाणुओं में ही जा मिलते हैं। फिर, वे ही काल-क्रम से स्थूल पृथ्वी का रूप धारण करते हैं। इसी प्रकार जल के परमाणुओं के भी दो रूप होते हैं। एक वह, जो जल के रूप में दिखलाई पड़ता है तथा दूसरा, उसका अपना अविनश्वर स्वयं-चालित स्वरूप है। आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में यह नित्य देखा जा रहा है कि एक हिस्सा हाइड्रोजन तथा दो हिस्सा ऑक्सीजन के परस्पर मिलने से हवा ही पानी का रूप धारण कर

लेती है। मिलने से उसी प्रकार तेज का भी परमाणु है, उनके भी दो अवस्थाएँ होती हैं—सत्ता रूप में अनित्य तथा स्वरूप में नित्य। आकाश अपने नित्य स्वरूप में स्थित है। कणाद ने आत्मा को भी परमाणु ही माना है तथा उसे भी नित्य और अनित्य दो अवस्थाओं में विभक्त किया है। आत्मा के जिस परमाणु ने संघटित हो कर अपना रूप धारण कर लिया है, वह रूप अनित्य है, पर आत्मा के मूल परमाणु अविनश्वर हैं।

इस प्रकार कणाद ने जगत् का मूल कारण परमाणु को सिद्ध कर यह दिखाया है कि परमाणु के संयोग से ही जगत् की उत्पत्ति हुई है और यही उसका मूल उपादान कारण है। द्रव्य की अविनश्वरता के अतिरिक्त ईश्वर नाम की सत्ता कणाद ने स्वीकृत नहीं की है। अत्याधुनिक भौतिक वैज्ञानिक जिस प्रकार विश्व का मूल परमाणु तत्त्व को ही अविनाशी मानकर सिद्ध कर रहे हैं, उसी प्रकार भारतीय भौतिक विज्ञान के आदि विश्लेषक कणाद इस तथ्य को बहुत पहले प्रतिपादित कर चुके हैं। द्रव्यों के साथ उनके गुण संलग्न हैं। द्रव्य का स्वाभाविक प्रवाह अपने गुण का विस्तार कर अन्त में अपने मूल अविनश्वर स्वरूप में लौट आना ही होता है। विभिन्न द्रव्यों के विभिन्न विशेष गुण हैं। उन द्रव्यों का विश्लेषण कर उनके विशेष गुणों का पता लगाने के कारण ही इस दर्शन का नाम वैशेषिक-दर्शन पड़ा।

२. न्याय-दर्शन

न्याय-दर्शन के रचयिता गौतम हैं। इनके प्रयास से भारतीय तात्त्विक ज्ञान-सञ्चार का वह साधन प्रस्तुत हुआ, जिसके द्वारा वस्तु का यर्थाथ ज्ञान प्राप्त होता है। विश्वव्यापी सामान्य नैतिकता का स्थायी आधार न्याय ही निश्चित करता है।

न्याय-दर्शन के अनुसार मानव के लिए ज्ञान-प्राप्ति के दो ही माध्यम है। प्रथम माध्यम का नाम है 'स्मृति-ज्ञान' तथा दूसरे का नाम है 'अनुभव'। किसी दृष्ट पदार्थ के लुप्त हो जाने पर मन में उसके संस्कार रूप से जो ज्ञान रहता है, उसी के आधार पर दूसरी बार वैसे ही पदार्थ को देखकर स्मृति के सहारे उस पदार्थ को पहचान लेने की शक्ति को स्मृति-ज्ञान कहते हैं।

अनुभव के दो भेद होते हैं। प्रथम है यथार्थ ज्ञान, जिसे न्याय की भाषा में 'प्रमा' कहते हैं तथा दूसरा है अप्रमा, अर्थात् मिथ्या ज्ञान। जो वस्तु जिस रूप में है, उसे उसी रूप में युक्तियुक्त प्रमाण के द्वारा ग्रहण करने का नाम प्रमा है। यह पद्धति आज के वैज्ञानिक अनुसंधान के सार्वभौमिक स्थायी विधान माने जाते हैं। प्रमा के ज्ञान से ही किसी वस्तु का वास्तविक सत्य रूप प्रकट होता है। किसी वस्तु के अस्तित्व की सिद्धि में युक्तियुक्त प्रमाण नहीं रहने से वह ज्ञान मिथ्या ज्ञान होता है, जिसे अप्रमा के नाम से अभिहित करते हैं।

न्याय-दर्शन के अनुसार जाननेवाले व्यक्ति में ही भ्रम होता है, स्वयं वस्तु-तत्त्व में भ्रम रहता नहीं। जैसे दूर में नाचती सूर्य की किरणों को देखने पर व्यक्तिविशेष द्रष्टा को उन किरणों में भ्रम से पानी भासित होता है, वस्तुतः वहाँ पानी रहता नहीं।

कुछ का कुछ भासित होनेवाले ज्ञान को न्याय-दर्शन में 'अन्यथाख्याति' कहा जाता है।

वास्तविक तत्त्व, जिसे प्रमा कहते हैं, उसको ज्ञान-प्राप्ति के लिए न्याय ने चार निश्चित नियम बनाये हैं। प्रथम है प्रत्यक्ष ज्ञान। मानवीय ज्ञान-इन्द्रियों का वस्तु के साथ संयोग हो कर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वही प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ तथा इन्द्रियों का उस वस्तु के साथ संयोग होना अत्यावश्यक होता है।

प्रमा की ज्ञान-प्राप्ति का दूसरा साधन अनुमान है, जिसे 'अनुमिति' भी कहते हैं।

तीसरा सादृश्य ज्ञान है, अर्थात् उपमा के माध्यम से उत्पन्न ज्ञान को 'उपमिति' ज्ञान कहते हैं।

चौथा है शाब्द-ज्ञान, अर्थात् शब्दों के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त हो, उसे 'शाब्द ज्ञान' कहते हैं। जो ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है, उसे अप्रमा की संज्ञा प्राप्त है।

अप्रमा के भी तीन भेद हैं। प्रथम है संशय, किसी वस्तु

को देखकर यह निर्णय नहीं कर सकना कि यह कौन सी वस्तु है, उसे संशय कहते हैं। दूसरा है विपर्यय, वस्तु के वास्तविक रूप को न समझकर कुछ का कुछ समझ लेने को विपर्यय-ज्ञान कहते हैं। जैसे सीप को देख कर चाँदी समझ लेना। तीसरा है तर्क, नहीं जाने हुए पदार्थ को जानने के लिए प्रमाण के द्वारा ऊहापोह करने को तर्क कहते हैं।

न्याय-दर्शन सृष्टि-प्रक्रिया के मूल प्रेरक ईश्वर को सिद्ध करने के लिए सार्वभौमिक पाँच प्रमाण प्रस्तुत करता है।

उसका प्रथम प्रमाण है 'कार्यात्', इसके अनुसार यह विश्व किसी का कार्य है तथा कार्य विना किसी कर्त्ता के हो नहीं सकता। जैसे घड़ा का अस्तित्व उसके निर्माता कुम्हार के अभाव में असम्भव है, उसी प्रकार इस अखिल विश्व रूप कार्य के रयियता का होना नितान्त अनिवार्य है।

दूसरा प्रमाण 'आयोजनात्' है। जिस प्रकार घड़ा बनाने के लिए चैतन्य शक्ति-सम्पन्न कुम्हार के द्वारा मिट्टी-रूपी उपादान से चाक पर घड़ा का अस्तित्व निर्मित होता है, उसी प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया प्रारम्भ करने के लिए ईश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छा की प्रेरणा से परमाणुओं को द्व्यणुक तथा त्र्यणुक में आयोजित कर विश्व के विभिन्न पदार्थों का निर्माण करते हैं।

तीसरा प्रमाण है 'धृत्यादे'। यदि कोई सर्वव्यापी चैतन्य सत्ता इस विश्व को धारण किये नहीं रहता, तो यह विश्व अपने निश्चित नियम से कब का स्खलित हो विशृङ्खलित हो

गया रहता। इस संसार में जितने कार्य हो रहें हैं, सब निश्चित नियम के द्वारा ही हो रहे हैं।

सूर्य का नित्य प्रति पूर्व दिशा ही में उदित होना तथा पश्चिम में अस्त होना एवं ऋतुओं का क्रमिक रूप से आना विना किसी सर्वव्यापी चैतन्य सत्ता के असम्भव है; क्योंकि निर्बुद्धि परमाणुओं में स्वयं इतना ज्ञान कहाँ, जो इस अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड को समष्टि रूप से नियन्त्रित कर सके।

चौथा प्रमाण है 'पदात्'। इस विश्व में ही विभिन्न प्रकार के विज्ञान एवं कला-कौशल वर्त्तमान हैं, उनकी उत्पत्ति के मूल में किसी ज्ञानवान्-चैतन्य-शक्ति का अस्तित्व होना अनिवार्य है।

पाँचवाँ प्रमाण 'प्रत्ययात्' है। न्याय-दर्शन में ईश्वर के प्रमाण के लिए श्रुति ही अन्तिम प्रत्यय अथवा प्रमाण है। श्रुति स्पष्ट शब्दों में ईश्वर के अस्तित्व का सार्वभौमिक नियम द्वारा प्रमाणित करती है। जैसे—'ॐ ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत्।' अर्थात् इस परिवर्त्तनशील जगत् में जो कुछ भी जड़ चेतन है, वह ईश्वर के द्वारा पूर्णरूपेण शासित है।

३. सांख्य-दर्शन

सांख्य-दर्शन के रचयिता कपिल मुनि हैं। इनके सिद्धान्तानुसार जो वास्तविक तत्त्व वर्तमान है, उसका कभी नाश नहीं होता तथा जो तत्त्व इस विश्व में देखा नहीं जा रहा है, उसका अस्तित्व है ही नहीं। सांख्य-दर्शन वास्तववादी है।

वह बाह्य जगत् को सत्य समझकर उसका वास्तविक अनुभव प्राप्त करने का पक्षपाती है। सांख्य के अनुसार बुद्धि में आरोपित पदार्थों का ज्ञान जब बाह्यजगत् से वास्तविक सम्बन्ध करता है तभी उसे सच्चा ज्ञान कहते हैं।

सांख्य के अनुसार उत्पत्ति-काल में जिस कारण से इस कार्य-रूप जगत् की उत्पत्ति हुई है, विनाश-काल में यह जगत् रूपी कार्य अपने मूलभूत कारण में विलीन हो जाता है। अतः सांख्य का 'कार्य-कारण' का सिद्धान्त पूर्ण वैज्ञानिक एवं समीचीन है। अतः सृष्टि जिस मूल तत्त्व से उत्पन्न होती है, विनाश होने पर उसी में सूक्ष्म रूप से मिलकर रहती है। जैसे वृक्ष का बृहद् स्वरूप उसके बीज में ही केन्द्रीभूत होकर चला जाता है। उस बीज को देख कर सहज ही कोई अनुमान नहीं कर सकता कि इस बीज में बृहद् वृक्ष का स्वरूप सूक्ष्म रूप से निहित है। इसी प्रकार सृष्टि के प्रत्येक कार्य सूक्ष्म से स्थूल तथा स्थूल से सूक्ष्म निरन्तर आवर्त्तित प्रत्यावर्त्तित होते रहते हैं। वर्त्तमान वैज्ञानिक सापेक्षवाद का मूल इस कार्य-कारण सिद्धान्त में ही निहित है।

सांख्य के अनुसार कोई तत्त्व ऐसा है, जो सबका कारण होते हुए स्वयं किसी का कार्य नहीं होता, जिसे प्रकृति कहते हैं। कुछ तत्त्व दूसरे के कार्य होते हैं, अर्थात् किसी से उत्पन्न होते हैं, पर स्वयं किसी को उत्पन्न नहीं कर सकते, जिसे विकृति कहते हैं। कोई तत्त्व कार्य-तथा कारण इन दोनों सम्बन्धों से

शून्य रहता है। सांख्य ने उसे ही पुरुष के नाम से सम्बोधित किया है।

सांख्य के सिद्धान्तानुसार जगत् के प्रत्येक कार्यों में कार्य-कारण सिद्धान्त लगे हुए हैं। विना कारण के कोई कार्य हो नहीं सकता। अतः कार्य-रूप विश्व में जो गुण वर्त्तमान में देख रहे हैं वह गुण अवश्य ही अपने कारण में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है। जगत् की कोई भी घटना आकस्मिक ही नहीं घटती, वरन् उसमें कार्य-कारण के वह वैज्ञानिक सिद्धान्त लगे रहते हैं।

सांख्य-दर्शन के रचयिता कपिल के सिद्धान्तानुसार इस विश्व की उत्पत्ति पचीस तत्त्वों से ही हुई है। वे ये ही पचीस तत्त्व हैं। प्रथम है पुरुष-दूसरा है प्रकृति। प्रकृति में ही तीन गुण समाविष्ट हैं सत्व, रज, तथा तम, फिर क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश। पाँच मानवीय ज्ञानेन्द्रिय—आँख, नाक, कान, जीभ और त्वचा। पाँच कर्मेन्द्रिय—वाक्-शक्ति, हाथ, पैर, गुदा और लिङ्ग। शरीरान्तर्वर्त्ती मन, बुद्धि और अंहकार है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विचरने के लिए पाँच विस्तृत-क्षेत्र प्रस्तुत हैं। जैसे पृथ्वी का गुण गन्धवती है, अर्थात् पृथ्वी ही अपने को रूपान्तरित कर विभिन्न गन्धों के रूप में प्रस्तुत करती है। अर्थात् घ्राण की गन्ध-ग्रहण-शक्ति के द्वारा पृथ्वी अपने गुण को प्रत्यक्ष कराती है। दूसरा ज्ञानेन्द्रिय है रसना, इसमें जलीय तत्त्वों से निर्मित विभिन्न रासायनिक परिवर्तनों

द्वारा उत्पन्न षट्-रस को ग्रहण करने की शक्ति रसना ही में है।

तीसरा ज्ञानेन्द्रिय नेत्र है—आँखों में तेज प्रतिबिम्बित होकर ही जगत् के पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं। यदि किसी का नेत्र तेज के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में असमर्थ है, तो वह प्रकाश के अभाव में जगत् के कोई पदार्थ को देख नहीं सकता। चौथा ज्ञानेन्द्रिय है त्वचा, इसके द्वारा हमलोग वायु के अस्तित्व को ग्रहण कर उसमें सर्दीपन या गर्मीपन का अनुभव करते हैं। कान के द्वारा हमलोग आकाश-तत्त्व को ग्रहण करते हैं; क्योंकि शब्द या आवाज आकाश का स्वयं अपना गुण है। जो कुछ भी शब्द होता है वह आकाश में ही होता है।

प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रज, तम है। प्रकृति अपने गुणों के अर्थात् सत्त्वोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के न्यूनाधिक रूप में सम्मिश्रण से जगत् की समस्त वस्तुओं का सर्जन किया करती है। सांख्य-दर्शन बहुत ही प्राचीन दर्शन है। श्वेताश्वर-उपनिषद् में सांख्य और योग को एक साथ ही व्यवहार किया गया है। जैसे—'तत् कारणं सांख्य-योगाधिगम्यम्'। सांख्य-दर्शन में प्रतिपादित प्रकृति के सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों का उल्लेख मूल रूप से छान्दोग्योपनिषद् में पाते हैं। उसके कथनानुसार अग्नि का रूप लाल होता है। जल का रूप शुक्ल वर्ण, अर्थात् श्वेत वर्ण होता है। पृथ्वी का रूप है काला वर्ण। जगत् के तत्त्वों

के निर्माण में ये ही तीन विभिन्न रङ्ग विभिन्न रूपों से संश्लिष्ट हो प्रकट होते हैं। सांख्य-प्रतिपादित प्रकृति का रूप श्वेताश्वर उपनिषद् में इस प्रकार प्रकट किया है। प्रकृति के तीनों गुण सत्त्व, रज तथा तम को तीन रङ्गों में व्यक्त करती है।

जैसे :—अजामेका लोहित कृष्ण शुक्लां।
बह्वीः प्रजाः सृजमानाः सरूपाः

अजा अर्थात् उत्पन्न नहीं होनेवाली एक प्रकृति है, जो अपने को तीन रंगों में प्रकट करती है, जो लाल, उजला तथा काला होता है। जो अपने स्वरूप के ही अनुसार विभिन्न प्राणियों को उत्पन्न कर लेती है।

अतः उपनिषदों में सांख्य-दर्शन के मूल सिद्धांत निहित थे, उसी की व्याख्या कपिल मुनि सांख्य सूत्र में किये। उपनिषदों के समय में सांख्य-दर्शन वेदांत के अन्तर्गत ही सम्मिलित था, बाद में यह पृथक् शास्त्र का रूप लिया। वर्त्तमान में कपिल मुनि-प्रणीत दो रचनाएँ मिलती हैं प्रथम है 'तत्त्व-समास' तथा दूसरा है 'सांख्य-सूत्र'। तीन गुणों के साम्य अवस्था का नाम प्रकृति है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्त्तित होते रहते हैं।

प्रकृति जब अपने तीनों गुणों के साम्य रूप में स्थित रहती है तब प्रलय होता है। प्रकृति के विभिन्न गुणों के विषमता के कारण ही सृष्टि होती है। इस प्रकार सांख्य

के सिद्धान्तानुसार प्राणियों की चैतन्य-निहित चित् शक्ति के अतिरिक्त समस्त पदार्थ परिवर्त्तित हो रहे हैं।

बौद्ध और कणाद इस सिद्धांत को मानते हैं कि किसी पदार्थ का पूर्णतः नाश होने पर ही उससे दूसरा नया पदार्थ बनता है। जैसे बीज के नाश होने के बाद उससे अंकुर तथा अंकुर का नाश होने के बाद उससे पेड़ की उत्पत्ति होती है।

पर सांख्य और वेदान्त के सिद्धांतानुसार किसी द्रव्य या पदार्थों का नाश नहीं होता। उनका कहना है कि वृक्ष के बीज में जो द्रव्य है, उसका नाश नहीं होता, वरन् वही द्रव्य जमीन से या वायु से दूसरे द्रव्यों को खींच लिया करते हैं। इससे ही बीज से अंकुर तथा अंकुर से वृक्ष बनता है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि 'कथमसत् सज्जायते' असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे होगी अर्थात् जो तत्व है ही नहीं उससे जो यह जगत् है किस प्रकार से हो सकता है। जैसे दूध से दही जमता है, पानी से नहीं, तिल से तेल निकलता है, बालू से नहीं इत्यादि प्रत्यक्ष देखे हुए अनुभवों में भी यही सिद्धांत प्रकट होता है। अतः इस सिद्धांत को सत्कार्यवाद कहते हैं।

आधुनिक पदार्थ-विज्ञान के ज्ञाताओं ने भी यही सिद्धांत निकाला है कि पदार्थों के जड़ द्रव्यों में और उसकी कर्म-शक्ति के योग में हमेशा एकता बनी रहती है। किसी प्रदार्थ के चाहे जितने रूपांतर हो जायँ, तोभी अंत में सृष्टि के कुल द्रव्यांशों का और उसके कर्म-शक्ति का जोड़ हमेशा एक ही सा

बना रहता है। जैसे हम दीपक को जलते हुए देखें तो मालूम होगा कि उसका तेल धीरे-धीरे कम होता जा रहा है और अन्त में दीपक भी बुझ जाता है। यद्यपि तेल तो सब जल जाता है, पर उसके परमाणुओं का अस्तित्व सूक्ष्म रूप से बना ही रहता है। उन परमाणुओं का अस्तित्व धुएँ या काजल या अन्य सूक्ष्म द्रव्यों के रूप में चला जाता है। अगर इन सूक्ष्म द्रव्यों को इकट्ठा कर तथा उस समय तेल में मिले हुए वायु के वजन के साथ ही तौला जाय, तो उस तेल का वजन और कालिख का वजन बराबर ही होगा। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि जगत् में नया पदार्थ कोई भी नहीं बनता, वरन् उसका अस्तित्व सूक्ष्म रूप से वर्त्तमान था उसी से कोई नई वस्तु की उत्पत्ति हुई है।

आधुनिक रसायन-शास्त्रज्ञों ने भी यह सिद्ध कर दिखाया है कि एक ही द्रव्य से जगत् के नाना पदार्थों की उत्पत्ति हुई है। इस विश्व में भिन्न-भिन्न पदार्थ जो देखने में आते हैं, जैसे वृक्ष, पशु, मनुष्य, पत्थर, सोना, चाँदी, हीरा, जल, वायु इत्यादि अनेक पदार्थ होते हैं। और, प्रत्येक पदार्थों के गुण भी भिन्न-भिन्न हैं। पर सांख्य-शास्त्र का यह कथन है कि यह भिन्नता या नानात्व मूल पदार्थ में नहीं है। मूल में सब वस्तुओं का द्रव्य एक ही है। आधुनिक रसायन-शास्त्रज्ञों ने भिन्न-भिन्न पदार्थों को, विद्युत् की शक्ति की सहायता से तोड़कर करीब बासठ भिन्न-भिन्न तत्त्व ढूँढ़ निकाले थे। परन्तु विज्ञान-

वेत्ताओं ने अपना प्रयोगशालाओं में प्रयोग कर यह निश्चित किया है कि इन बासठ मूल तत्त्वों का कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वरन् उन सब के मूल में कोई एक ही पदार्थ है और उस पदार्थ से ही सूर्य चन्द्र, तारागण, पृथ्वी इत्यादि समस्त सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। सांख्य-शास्त्र में यही मूल द्रव्य प्रकृति के नाम से प्रसिद्ध है कि जिससे अनेक पदार्थों की उत्पत्ति हुई है। प्रकृति का अर्थ भी मूल ही है, अर्थात् जिससे सभी उत्पन्न हुए हो उसे ही, प्रकृति कहते हैं। प्रकृति के आगे जो पदार्थ बनते हैं, उसे प्रकृति की विकृति कहते हैं। मूल प्रकृति से जो कुछ भी उत्पन्न होता है, जैसे मनुष्य, पशु, वृक्ष, पहाड़, हीरा, मोती, पारा इत्यादि सब के सब प्रकृति की विकृति ही तो है।

सांख्य के अनुसार भी परमाणु सदा परिभ्रमण कर रहे हैं। जैसे समुद्र का पानी सूर्य की गर्मी से वाष्प बनकर बादल का रूप धारण करता है। यहाँ पानी ही अपना रूप परिवर्त्तित कर वाष्प या बादल बन जाता है। फिर वही बादल पहाड़ों से टकराकर वहाँ वर्षा करता है। पहाड़ों पर बरसा हुआ पानी ही जमकर बर्फ का दूसरा विशाल पहाड़-सा बन जाता है। तथा वही बर्फ ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की गर्मी से पिघलकर बरसात में अपने आस-पास के भू-भागों को अभिसिंचित करते हुये फिर समुद्र में ही जाकर मिलता है। उसी प्रकार चन्द्रमा की भी चाल प्रति माह घटते-घटते विलीन-सी हो जाती है किन्तु फिर उसमें क्रमशः वृद्धि शुरू होती

है तथा वह अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। सौर मंडल की चाल भी उसी प्रकार की है। कहाँ तक कहा जाय विश्व के प्रत्येक पदार्थ का परमाणु सदा एवं सवंदा परिभ्रमण कर रहा है। हम लोगों का शरीर भी परमाणुओं से ही बना है। जिन परमाणुओं के द्वारा हमलोगों के शरीर का निर्माण हुआ है, वे परमाणु भी प्रति क्षण, प्रति पल परिवर्त्तित होते रहते हैं। जिस प्रकार प्रवाहयुक्त नदी का पानी एक जगह नहीं रह सकता वरन् तीव्र गति से प्रवाहित होता रहता है। उसी प्रकार हम लोगों के शरीर के भी परमाणु एक क्षण स्थिर नहीं रह सकते। बचपन में शरीर के परमाणु बालक के रूप में संकुचित रहते हैं फिर वही खाद्य एवं समय के प्रवाह से विकसित हो प्रौढ़ बनकर वृद्धत्व को प्राप्त करता है। परमाणु रूपी पुञ्ज से निर्मित हमलोगों का शरीर खाद्य के रूप में नवीन परमाणुओं को ग्रहण करता है तथा शरीर के कुछ विकृत परमाणुओं को मल एवं मूत्र के रूप में बाहर निकालकर अपनी विकसित अवस्था को क्रमशः पहुँचता रहता है।

अपने विकास की चरमावस्था पर पहुँच हमलोगों का शरीर फिर अपने मूलभूत परमाणुओं में मिलने के लिए प्रस्थान करता है। मृत्यु के पश्चात् हमलोगों के शरीरों के परमाणु छिन्न-भिन्न होकर अपने मूल रूप में पहुँच जाते हैं। जैसे अस्थि, मांस, त्वचा नाड़ी तथा रोम ये पृथ्वी के अंश हैं। अर्थात्, इनका सूक्ष्म अंश पृथ्वी का रूप धारण कर लेता है।

वीर्य, रक्त, लार, मूत्र तथा स्वेद ये पानी के रूप हैं इनका सूक्ष्म-अंश प्राणी का रूप धारण करता है। क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, मैथुन, बुद्धि तथा नयन, ये तेज के अंश हैं, इनका सूक्ष्म परमाणु तेज का रूप धारण कर लेता है। मन, त्वचा की स्पर्श-शक्ति, चलना, पसरना, रोकना तथा आकुंचन, ये वायु के अंश से होते हैं, अर्थात् इनके सूक्ष्म अंश वायु में जाकर मिल जाते हैं। अन्तःकरण, श्रवण, वाक्, शब्द, विषय, काम, क्रोध, शोक, मोह तथा भय ये आकाश-तत्त्व से उत्पन्न होते हैं अर्थात् इनके सूक्ष्म अंश आकाश में मिल जाते हैं। ये परमाणु अपने-अपने मूल रूप में आकर फिर दूसरे मूर्त्त रूप बनने का उपकरण बन जाते हैं। मिट्टी में बीज बोया जाता है, वही बीज मिट्टी और पानी के अशों को खींचकर प्रकाश के सहारे आकाश में बढ़ता है। फिर वही क्रमशः अपने फल के रूप में आकर केन्द्रित हो जाता है। तथा वही फल दूसरे जीव के लिए खाद्य पदार्थ बनता है। मानव मात्र का आहार अन्न ही तो है? उसी अन्न को खाने से क्रमशः वीर्य बनता है, फिर उसी वीर्य से दूसरा मानव रूप खड़ा होता है। यही परमाणुओं का परिभ्रमण है जो निरन्तर अपने केन्द्रों पर चक्कर काट रहा है।

सांख्य-दर्शन में पुरुष का रूप साक्षात् चैतन्य स्वरूप ही है। जगत् के समस्त पदार्थों में तीन गुण के साथ चैतन्यता वर्त्तमान है। उन पदार्थों में तीन गुण तो प्रकृत्ति का अंश है तथा चैतन्यता पुरुष का अंश।

सांख्य-दर्शन ने पुरुष की कल्पना युक्तियों द्वारा प्रमाणित किया है। 'संघात परार्थत्वात्'—जगत् के समस्त पदार्थ संघात-मय है। संगठित वस्तुओं का यह स्वभाव है कि वह किसी अन्य के उपयोग के लिए ही संगठित होती है। अतः प्रकृति से उत्पन्न यह संघातमय विश्व किसी के लिए निर्मित है। जड़ पदार्थ में विना चैतन्य के कोई प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। संसार के समस्त विषय भोग्य हैं, इसलिए इसका भोक्ता, अर्थात् उसका भोग करनेवाला अवश्य ही होगा और वही पुरुष है। भोग्य विषय का भोक्ता ही पुरुष है। पुरुष स्वभावतः असङ्ग तथा मुक्त है। किन्तु अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग हो जाता है। इस संयोग का कारण प्रकृति से उत्पन्न जो दुःख-भोग है, वही संसार है। इसलिए संसार का मूल कारण अविवेक हैं। तथा दुःख से छुटकारा पाने का रास्ता है विवेक।

सांख्य का पुरुष शरीर तथा मन के ऊपर है। वह अपरि-वर्त्तनशील तथा नित्य है। पुरुष के अपने इस नित्य सत्य स्वरूप को जान लेना ही कैवल्य पद की प्राप्ति है। विवेकी पुरुष को प्रकृति का कोई नर्तन-व्यापार प्रभावित नहीं करता। तत्त्वज्ञान के परिणाम स्वरूप ही पुरुष में कैवल्य-ज्ञान का उदय होता है। यही ज्ञान संशय तथा विपर्यय से विमुक्त विशुद्ध ज्ञान होता है। इस प्रकार संगहीनता, क्रियाहीनता, तथा कर्तृत्वहीनता से मुक्त होकर पुरुष प्रकृति गुणों से

स्वभावतः कैवल्य अनुभव करने लगता है। इस प्रकार की मुक्त अवस्था की प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति इसी जन्म में कर सकता है।

सांख्य-दर्शन ईश्वर को नहीं मानता। यह पचीस तत्त्वों से ही जगत् की उत्पत्ति को मानता है। तथा इन्हीं पचीस तत्त्वों को प्रकृति में समाविष्ट कर प्रकृति को ही अविनाशी मानता है। प्रकृति स्वयं जड़ात्मिका है, किन्तु चैतन्य स्वरूप पुरुष का संयोग होने पर प्रकृति ही जगत्-प्रक्रिया को प्रारम्भ करती है। सांख्य के अनुसार ईश्वर तार्किक युक्तियों का विषय है ही नहीं। इसलिए सांख्य-दर्शन प्रमाण द्वारा ईश्वर को असिद्ध मानकर कहता है 'ईश्वरासिद्धेः', 'प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः' सां० सूत्र।

ईश्वर की सिद्धि तर्क-शास्त्र के पञ्चावयव वाक्यों की सहायता से सिद्ध किया नहीं जा सकता। अतः प्रमाण के अभाव में सांख्य-दर्शन ईश्वर को असिद्ध मानता है। ईश्वर स्वयं निर्व्यापार है। अतः इस परिवर्त्तनशील जगत् का वह क्रियाशील कारण कभी हो नहीं सकता। व्यक्ति विशेष का किसी कार्य में प्रवृत्ति स्वार्थ से प्रेरित होकर ही होती है। इसलिए इस विश्व-प्रक्रिया की रचना में ईश्वर का कोई स्वार्थ नहीं दीखता; क्योंकि ईश्वर पूर्णकाम है। उसकी कोई इच्छा है ही नहीं, जिसकी प्राप्ति के लिए वह इस जगत् प्रक्रिया में प्रवृत्त हो। किन्तु विज्ञान भिक्षु जो सांख्य-दर्शन के

प्रख्यात विद्वान हैं, वे सांख्य-दर्शन को निरीश्वरवादी मानने को तैयार हैं नहीं। इनके सिद्धान्तानुसार ईश्वर जगत् का कर्त्ता भले ही न हो, पर वह जगत् का साक्षी है अवश्य ही। इन्होंने सांख्य-निर्णीत पुरुष को ही ईश्वर माना है तथा ईश्वर की शक्ति प्रकृति भी इन्हें मान्य है, जिससे यह जगत्-प्रक्रिया प्रारंभ होती है। श्रुति में भी सांख्य का यही तत्त्व प्रतिपादित है। जैसे, श्वेताश्वतर-उपनिषद् में कहा है, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्, अर्थात् प्रकृति ईश्वर की माया-शक्ति है तथा प्रकृति के अधिपति महेश्वर मायी कहलाते हैं।' जिस प्रकार चुम्बक लोहा अपने आसपास के धातु में गति उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार पुरुष प्रकृति में गति उत्पन्न कर देता है। सांख्य-दर्शन पुरुष का स्वरूप चैतन्य-रूप में मान पंचमहाभूतों तथा मन को प्रकृति के अन्तर्गत ही माना है, जिससे जीवों का भिन्न-भिन्न मानसिक स्तर एवं विभिन्न भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है। पुरुष और प्रकृति को ही सांख्य ने मौलिक तत्त्व माना है। वैशेषिक-दर्शन के नवों अविनाशी तत्त्वों को, प्रकृति और पुरुष में ही निहित कर सांख्य ने स्वीकार किया है। काल (Time) और दिक् (Space) को सांख्य-दर्शन स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना।

सांख्य-दर्शन के दो सिद्धान्त सब से अवैज्ञानिक मालूम होते हैं। एक तो जड़ प्रकृति में समस्त कर्त्तव्य शक्ति का समावेश करना तथा दूसरा चेतन पुरुष को असंख्य रूप में मानना। सांख्य-दर्शन जड़ प्रकृति को ही जगत् का कर्त्ता मान बैठा है,

किन्तु वेदान्त दर्शन के रचयिता महर्षि बादरायण को यह सिद्धांत मान्य नहीं है। इनके अनुसार सांख्य-दर्शन की प्रकृति की कल्पना श्रुति-सम्मत नहीं है, वरन् अनुमान के दुर्बल अधार पर आधारित है।

पुरुष बहुतत्त्ववाद का भी सिद्धांत इसी प्रकार अवैज्ञानिक एवं अव्यावहारिक है। जन्म, मरण, अवस्थाभेद, तथा मानसिक दशा के कारणों से सांख्य-दर्शन पुरुष को एक नहीं, वरन् बहुत्व संख्या में मानता है। शारीरिक तथा मानसिक अवस्थाओं के भेद के कारण प्रत्येक पुरुष में विभिन्न भेद मानकर पुरुष-बहुत्व के सिद्धांत का प्रमाण द्वारा पुष्टिकर सांख्य-दर्शन मानता है किन्तु यह सिद्धांत अवैज्ञानिक एवं अव्यावहारिक है। अंधापन, लँगड़ापन आदि देह के धर्म हैं इसलिए शुद्ध आत्मा में भिन्नता आ कैसे सकती है। चैतन्य-रूप से सब पुरुष एक समान ही है। इस प्रकार पुरुष को चैतन्य-रूप में मानना तथा उसी क्षण विभिन्न बतलाना कहाँ तक व्यावहारिक है, यह एक विचार का विषय है। पुरुष का प्रकृति के साथ प्रथम संयोग होता कैसे है, इसे भी सांख्य-दर्शन स्पष्ट नहीं कर सका है।

४. योग-दर्शन

योग-दर्शन के रचयिता महर्षि पतञ्जलि हैं। इनके अनुसार विश्व के रहस्य को वास्तविक रूप से हृदयङ्गम करने के लिए पहले अपने में ही निहित तत्त्वों की खोज करने की

आवश्यकता है। वे कहते हैं—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', अर्थात् अपने चित्त की जो स्वाभाविक वृत्तियाँ है, उन्हें रोककर अपने ही अंदर वास्तविक सत्य का दर्शन किया जा सकता है। सत्त्व, रज, तथा तम के गुणों से संयुक्त रहने से चित्त की पाँच अवस्थाएँ होती हैं। चित्त की प्रथम अवस्था है 'क्षिप्त'। क्षिप्त की अवस्था में चित्त में रजोगुण की प्रबलता रहती है। चित्त उस समय अस्थिर तथा चंचल रहता है। भौतिकवादी बाहरी दृष्टिकोण रहने से उस समय चित्त संसार के सुख और दुःख के द्वन्द्व में पड़ा रहता है।

चित्त की दूसरी अवस्था है 'मूढ़'। मूढ़ चित्त में तमोगुण की अधिकता के कारण वह विवेक-शून्य रहता है। क्या करना चाहिए तथा क्या नहीं करना चाहिए, इसका विवेक-मूढ़ चित्त नहीं करता। उसमें क्रोधादि विकार की अधिकता हो जाती है, जिससे प्रेरित हो कर वह नियम-विरुद्ध कार्य में ही लगा रहता है।

'विक्षिप्त' चित्त की तीसरी अवस्था है। विक्षिप्त चित्त में सत्त्व की कुछ-कुछ अधिकता हो जाती है, जिससे चित्त शब्द-ब्रह्म का अभ्यासी बन कभी कभी स्थिरता को धारण करता रहता है।

चित्त की चौथी स्थिति है 'एकाग्र'। जब चित्त की वृत्तियों का निरोध होने पर चित्त एक ही विषय में एकाकार वृत्ति को धारण करता है, तब उसे 'एकाग्र' कहते हैं।

चित्त की पाँचवीं स्थिति है 'निरुद्ध'। जब चित्त की सब प्रकार का वृत्तियां एवं संस्कारों का पूर्ण रूप से लय हो जाता है, तभी उस चित्त की अवस्था को 'निरुद्ध' की संज्ञा देते हैं।

चित्त की इन पाँच अवस्थाओं में तीन अवस्था, अर्थात् क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त तो समाधि के लिए पूर्णरूप से अनुपयोगी ही हैं। किन्तु, अन्तिम दानों अवस्थाओं में, अर्थात् 'एकाग्र' और 'निरुद्ध' की अवस्थाओं में योग का उदय होता है। इसलिए समाधि के लिए एकाग्र और निरुद्ध की ही आवश्यकता होती है।

सांख्य के सिद्धान्तानुसार प्रतिपादित पुरुष शुद्ध चैतन्य-रूप है। वह प्रकृति से उद्भूत मन एवं चित्त से सर्वथा स्वतन्त्र है। चित्त वास्तव में प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण अचेतन है। किन्तु अचेतन चित्त में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह अचेतन चित्त चैतन्य के समान मालूम पड़ने लगता है। पुरुष को भौतिक पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान चित्त की वृत्तियों के कारण ही होता है। जिस प्रकार नदी की तरंगों में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा स्थिर होने पर भी चलायमान एवं चंचल मालूम होता है, उसी प्रकार परिवर्त्तनशील चित्त में प्रतिबिम्बित स्वयं अपरि-णामशाली पुरुष परिवर्त्तनशील प्रक्रिया के समान मालूम पड़ने लगता है।

चित्त में अनेक प्रकार के क्लेश लगे हुए हैं, उन्हें दूर करने के लिए ही योग-दर्शन की उत्पत्ति हुई है। क्लेश पाँच प्रकार का होता है—

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश। अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा जड़ पदार्थ को क्रमशः नित्य, पवित्र, और सुख मानना तथा उसमें आत्मबुद्धि रखना अविद्या कहलाती है।

द्रष्टा पुरुष और दर्शन-शक्ति युक्त बुद्धि ये दोनों सर्वथा भिन्न और विलक्षण हैं। द्रष्टा चेतन है तथा बुद्धि जड़ है। इनकी एकता हो ही नहीं सकती। अविद्या के कारण ही इन दोनों को एक मान बैठे हैं। इसे ही अस्मिता कहते हैं। सुख को उत्पन्न करनेवाली वस्तुओं में जो लोभ या तृष्णा उत्पन्न होती है, उसे राग कहते हैं।

मन के प्रतिकूल पदार्थों में दुःख की अनुभूति होती है तथा दुःख के उन साधनों से जो क्रोध होता है, उसे ही द्वेष कहते हैं।

नीच-से-नीच जीव को भी मृत्यु का डर बना रहता है, उसे ही अभिनिवेश कहते हैं।

इन दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिए ही योग-दर्शन में अष्टाङ्ग योग के मार्ग का वर्णन किया गया है।

पतंजलि ने अष्टांग योग का वर्णन मनोविज्ञान के आधार पर किया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि, ये ही पतंजलि के अष्टांगयोग हैं।

यम—यम का अर्थ संयम होता है। इसके पाँच भेद होते हैं।

(१) अहिंसा—सर्वदा तथा सर्वथा सब प्राणियों पर मन, वचन तथा कर्मों द्वारा किसी प्रकार की हिंसा नहीं करना।

(२) सत्य—मन और वचन का यथार्थ होना, अर्थात् जैसा देखा गया या सुना गया हो, उसको वैसा ही कहना सत्य है।

(३) अस्तेय—दूसरे के द्रव्यों के लिए इच्छा नहीं करना।

(४) ब्रह्मचर्य—इन्द्रियों को संयत रखने को कहते हैं।

(५) अपरिग्रह—विषयों को अर्जन नहीं करना तथा रक्षा आदि में दोष देखकर उसे स्वीकार नहीं करना।

नियम—इसके भी पाँच भेद होते हैं।

(१) शौच—भीतरी तथा बाहरी शुद्धि।

(२) सन्तोष—आवश्यकीय वस्तु को अधिक न होने तथा उसे पाने के लिए हाय-हाय नहीं करने को कहते हैं।

(३) तप—सुख दुःख, घाम जाड़ा, भूख, प्यास आदि दुःखों को अपने इष्ट साधन के लिए सहने तथा कठिन व्रतों के पालन करने को कहते हैं।

(४) स्वाध्याय—मोक्ष-शास्त्रों के पढ़ने की अर्थात् अपने 'मैं' के उत्पत्ति के विषय में अध्ययन करने तथा ओंकार का जप करने को 'स्वाध्याय' कहते हैं।

(५) ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वर में भक्ति-पूर्वक सब कर्मों को समर्पण करने को कहते हैं।

आसन—'स्थिर सुखमासनम्' स्थिरता तथा सुख देनेवाला जो भी आसन हो, अर्थात् ऐसा आसन जिससे शरीर को सुख मिल सके, जैसे कमलासन, सिंहासन आदि, को आसन कहते हैं।

प्राणायाम—आसन ठीक हो जाने पर श्वास-प्रश्वास की गतियों को रोकने तथा छोड़ने को प्राणायाम कहते हैं।

यह तीन प्रकार का होता है। (१) रेचक—भीतरी वायु को बाहर निकालकर बाहर ही रोकने को कहते हैं।

(२) पूरक—बाहर की वायु को भीतर रोक रखने को पूरक कहते हैं।

(३) कुम्भक—एक ही प्रयत्न से बाहरी और भीतरी वायु को रोककर स्थिर हो जाने को कहते हैं।

प्रत्याहार—जब इन्द्रियाँ अपने बाह्य विषयों से हटकर चित्त के समान ही शान्त एवं गम्भीर हो रुक जाती हैं, तब उसे ही प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रियों के ऊपर पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो जाता है।

धारणा—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' किसी देश में जैसे नासिका या जिह्वा के अग्र भाग पर या देवता की मूर्त्तियों आदि में चित्त को लगाना धारणा कहलाता है।

ध्यान—ध्येय वस्तु का ज्ञान जब ध्याता को पूर्ण रूप से हो जाता है, अर्थात् जब उसे अपने ध्येय के अलावा कुछ भी नहीं दिखता है, तब उसे ध्यान कहते हैं।

समाधि—समाधि का अर्थ है कि विषयों से हट कर चित्त का एकाग्र हो जाना। जहाँ ध्यान ध्येय वस्तु के प्रभाव से अपने स्वरूप को छोड़ देता है, अर्थात् ध्येय वस्तु का आकार धारण कर लेता है, उसे ही समाधि कहते हैं। ध्यानावस्था में ध्यान,

ध्याता और ध्येय अलग-अलग रहते हैं, पर समाधि की अवस्था में तीनों एक रूप बन जाते हैं।

अष्टाङ्ग योग की प्राप्ति के लिए उसको कार्य रूप में परिणत करने के लिए क्रिया-योग की आवश्यकता है। क्रिया-योग के अभ्यास से क्लेशों का नाश हो जाता है।

जिस समय चित्त में सत्त्व के साथ साथ रज का तनिक अंश अवशेष रहता है, तभी विभूतियों का उदय होता है, जिसे पतञ्जलि ने योगदर्शन में विस्तार से दिखलाया है। मधुमती भूमि में साधकों को ये सिद्धियाँ प्रलोभित करने लगती हैं। इसलिए उस समय साधक को आसक्ति और अभिमान तनिक भी नहीं करना चाहिए। जब साधक इन सिद्धियों के प्रलोभन को पार कर जाता है, तब 'कैवल्य'-पद की प्राप्ति होती है। कैवल्य का अर्थ है केवल अकेले रहने की स्थिति। जड़ात्मिका प्रकृति से उत्पन्न बुद्धि का चैतन्यस्वरूप पुरुष से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर पुरुष कैवल्य प्राप्त करता है।

योगी चार प्रकार के होते हैं—(क) प्रथम कल्पित, (ख) मधुभूमिक, (ग) प्रज्ञाज्योति, (घ) अतिक्रान्तभावनीय।

अष्टाङ्ग योग को क्रिया-योग में लाकर जो साधक योग-मार्ग में प्रवेश करता है, उसे प्रथम कल्पित योगी कहते हैं।

मधुभूमिक अवस्था में पहुँचे योगी का चित्त अत्यन्त ही विशुद्ध हो जाता है, देवता और अप्सराएँ आदि उनके पास उपस्थित होकर अनेक प्रकार के प्रलोभन देने लगती हैं।

योगियों के लिए यह अवस्था परीक्षा की होती है। साधक को उस समय आसक्ति और अंहकार से दूर रहना चाहिए; नहीं तो ये प्रलोभन साधक को नीचे गिरा देते हैं।

प्रज्ञाज्योति की अवस्था में योगी का पञ्चतत्त्वों पर अधिकार हो जाता है।

चित्त की पाँच वृत्तियाँ हैं प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति। प्रमाण—योग-दर्शन भी सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द इन तीनों को प्रमाण मानता है।

किसी वस्तु के मिथ्या ज्ञान को विपर्यय वृत्ति कहते हैं। संशय भी इसी के अन्तर्गत माना जाता है। विकल्प—शब्द ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला, किन्तु वास्तविकता से शून्य ज्ञान विकल्प कहा जाता है। जैसे कोई कहे कि 'घोड़े का सींग' इन शब्दों के अर्थ तो समझ जाते हैं, किन्तु वास्तविकता से इसका सम्बन्ध है नहीं।

निद्रा—यह भी चित्त की एक वृत्ति ही है। अन्धकार की अधिकता पर आधारित होनेवाली चित्त की जो वृत्ति होती है उसे ही निद्रा कहते हैं। चित्त में निद्रा की अवस्था में जाग्रत् और स्वप्न की वृत्तियों का अभाव रहता है। अतः निद्रा भी चित्त की एक वृत्ति ही है।

स्मृति—अनुभव किये गये विषयों का विना परिवर्त्तन के ठीक-ठीक याद आने को स्मृति-ज्ञान कहते हैं। चित्त से उत्पन्न समस्त वृत्तियों को इन्हीं पाँचों के अन्तर्गत माना जाता है।

चित्त में वृतियाँ उत्पन्न होकर अपना संस्कार चित्त में छोड़ जाती हैं। वे ही संस्कार-योग्य परिस्थिति पा वृत्तियों का रूप धारण कर लेती है। अतः वृत्तियों से संस्कारों की उत्पत्ति तथा संस्कारों से वृत्तियों का उदय, इस प्रकार यह चक्र निरन्तर क्रियाशील बना रहता है।

योग-दर्शन में समाधि की दो अवस्थाएँ होती हैं, जिसे सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। समाधि में ध्याता और ध्येय में घर्षण होता है, जिससे बुद्धि में प्रज्ञाग्नि की उत्पत्ति होती है। कुछ समय तक प्रज्ञाग्नि स्वयं प्रकाशित रहती है, किन्तु अन्त में वह भी शांत हो जाती है।

एकाग्र, चित्त की वह अविचलित अवस्था है, जब ध्येय वस्तु के ऊपर चित्त चिरकाल तक स्थिर रहता है। इस योग का नाम संप्रज्ञात या सबीज समाधि है, जब चित्त की अन्य वृत्तियों का नाश होकर एकाग्र भूमि में ध्याता एक ही ध्येय वस्तु के निरन्तर ध्यान में लगा रहता है, तब उसे संप्रज्ञात समाधि कहते । इसका फल है प्रज्ञा का उदय होना। यही प्रज्ञा वास्तविक सत्य को प्रकाशित करती है।

किन्तु निरुद्ध की अवस्था में असम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है। वृत्तियों के निरोध से उत्पन्न प्रज्ञा का भी निरोध करना आवश्यक है। क्योंकि, प्रज्ञा कितनी भी सात्त्विक क्यों न हो, आखिर तो वह भी चित्त की एक वृत्ति ही है। अत प्रज्ञा का भी निरोध करना समस्त वृत्तियों का निरोध माना

जायगा तथा उसी अवस्था को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। जब चित्त की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध या बंद हो जाती हैं, तब इसे निर्बीज या असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय वस्तु का ज्ञान ध्याता को बना रहता है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय, ध्यान और ध्याता एक हो जाते हैं।

पंचतत्त्वों पर अधिकार होने से साधक इन्द्रियजयी हो जाता है। पंचभूतों से उत्पन्न पाँच ज्ञान-इन्द्रियों पर साधक को अधिकार प्राप्त कर लेने पर उसे अणिमा, महिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

अतिक्रान्त भावनीय—जब साधक पंचतत्त्वों के आवरण को पारकर अस्मिता की अवस्था में पहुँचता है, तब वह सर्वज्ञ हो जाता है। प्रकृति के तीनों गुणों को पारकर इस अवस्था में साधक का मस्तिष्क दृश्य तथा चिन्तनीय भौतिक जगत् के पदार्थों की सीमा पारकर परमपद में स्थित हो जाती है। इसी अवस्था का नाम अतिक्रांतभावनीय है।

ईश्वर का स्थान योग-दर्शन में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। सांख्य-दर्शन के पच्चीस तत्त्वों को मान योग-दर्शन केवल ईश्वर-तत्त्व को अधिक माना है। इसीलिए योग-दर्शन को सेश्वर-सांख्य कहते हैं। योग-दर्शन ईश्वर पर बोलते हुए कहता है—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' योगसूत्र के अनुसार गोतत्त्व क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) तथा आशय (विपाकानुरूप

संस्कार) के सम्बन्ध से शून्य रहता है, वही ईश्वर है। ईश्वर से सम्बन्ध रखते हुए पतञ्जलि-दर्शन में दूसरा सूत्र यह आया है—'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' योग सूत्र के अनुसार प्रणिधान का अर्थ होता है 'प्रकर्षेण चित्तस्य निधानम्'। अतः ईश्वर को प्रेमपूर्वक अपने कर्म-फलों को अर्पण करने को ही ईश्वर-प्रणिधान कहते हैं। अतः योग-दर्शन में ईश्वर का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

योग भारत की एक अमूल्य सम्पत्ति है। विज्ञान की भाँति योग का क्रमिक अनुशीलन कर भारतीयों ने इस मनोविज्ञान को उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। आधुनिक पाश्चात्त्य मनोवैज्ञानिक चित्त के कुछ अंशविशेष की ही जानकारी प्राप्त कर सके हैं। मनोविज्ञान अभी तक केवल मन की विभिन्न मानसिक अवस्थाओं की ही सूचना दे सका है। किन्तु, भारत की योग-विद्या ने चेतना के अवस्थाविशेष की ही सूचना केवल नहीं दी है, वरन् यौगिक प्रक्रिया के अभ्यास से पञ्चतत्त्वों पर प्रभुत्व प्राप्त कर मनोनुकूल स्वतन्त्रतापूर्वक उसे संचालित करा सकने की क्षमता प्रदान कराती है। यौगिक प्रक्रियाओं के अभ्यास से केवल भौतिक तत्त्वों पर अधिकार ही नहीं होता, वरन् मानव उसका संचालक भी बन जाता है।

५. मीमांसा-दर्शन

मीमांसा-दर्शन के रचयिता 'जैमिनि मुनि हैं। इस दर्शन की दृष्टि में यह जगत् भ्रम से आभासित नहीं है,

वरन् प्रत्यक्ष रूप से वास्तविक है। यह वास्तववादी दर्शन है। इस दर्शन का प्रधान विषय है धर्म का प्रतिपादन करना। धर्म के लिए मूल केन्द्र प्रमाणभूत वेद हैं। 'मीमांसा-दर्शन' धर्म का लक्षण करते हुए कहता है 'चोदनालक्षणोऽर्थो-धर्मः'। चोदना का अर्थ है प्रेरणा। अर्थात्, जिस वैदिक विधि-वाक्य से विश्व के कल्याणार्थ कर्त्तव्यों को करने के लिए प्रेरणाएँ मिले, उनका सम्यक् सम्पादन करना ही धर्म का वास्तविक उद्देश्य है। इसलिए मीमांसा-दर्शन ने वेद के स्वरूप तथा उसकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए बड़ी सबल युक्तियाँ दी हैं। मीमांसा-दर्शन जगत् के अतिरिक्त ईश्वरकोनहीं मानता। मीमांसा-दर्शन, ईश्वर को नहीं मानने के कारण, वेदों का कोई भी कर्त्ता नहीं मानता। उसकी दृष्टि में वेद नित्य हैं तथा पुरुष-निर्मित न होने से अपौरुषेय हैं। वेद के विषय-विभाग का विवेचन मीमांसकों ने बड़े विस्तार तथा छानबीन के साथ दिया है। वेद के पॉच विषय हैं—

(१) विधि, (२) मंत्र, (३) नामधेय (४) निषेध, (५) अर्थवाद।

(१) विधि—स्वर्ग की कामनावाला पुरुष यज्ञ करे। इस प्रकार के विधान को बतानेवाले वाक्य को 'विधि' कहते है।

(२) मंत्र—अनुष्ठान के अर्थ-स्मारकों को 'मंत्र' के नाम से पुकारते हैं।

(३) नामधेय—विभिन्न यज्ञों के नामों को 'नामधेय' संज्ञा देते हैं।

(४) निषेध—अनुचित काम से अलग रहने को 'निषेध' कहते हैं।

(५) अर्थवाद—किसी पदार्थ के सच्चे गुणों के कथन को 'अर्थवाद' का नाम दिया जाता है।

इन पाँचों विभागों में से सबसे प्रमुख विधि-वाक्य ही है। अन्य चार उसके सहायक हैं। हमारी इन्द्रियाँ ही बाहरी वस्तुओं की उपलब्धि के साधन हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा इस जगत् की जिस रूप में उपलब्धि होती है, उसी रूप में जगत् की सत्यता है।

इस संसार में तीन प्रकार से वस्तुओं का ज्ञान हमें होता है। प्रथम, शरीर--जिसमें रहकर आत्मा सुख-दुःख का अनुभव किया करता है।

द्वितीय इन्द्रियाँ, जिसके द्वारा आत्मा सुख-दुःख का अनुभव किया करत है।

तृतीय है भोग-विषय—वह बाह्य पदार्थ, जिसका भोग आत्मा किया करता है।

मीमांसा जगत् की मूल सृष्टि तथा आत्यन्तिक प्रलय को नहीं मानता। केवल व्यक्ति उत्पन्न होते रहते तथा विनाश को प्राप्त करते रहते हैं। जगत् की सृष्टि तथा लय कभी नहीं होते। कुछ मीमांसक लोग अणुवाद को स्वीकार करते हैं। जगत् की प्रत्येक वस्तु अणु से उत्पन्न हुई है। कर्मों के फलोन्मुख होने पर अणुसंयोग से व्यक्ति उत्पन्न होते हैं तथा फल की

समाप्ति पर विच्छिन्न हो जाते हैं। न्याय तथा वैशेषिक-दर्शन भी जगत् की उत्पत्ति परमाणु से मानता है, पर मीमांसा का अणुवाद उन दोनों से भिन्न है। सूर्य-किरण के छिद्रगत होने पर उनमें जो सूक्ष्म द्रव्य दीख पड़ते हैं, वे 'त्रसरेणु' कहलाते हैं तथा त्रसरेणु के छठे भाग को परमाणु कहते हैं। पर मीमांसकों को यह मान्य नहीं है। उनके मत से हमारे नेत्र से दीख पड़नेवाला ही परमाणु है तथा इससे सूक्ष्म कणों की कल्पना का कोई आधार ही नहीं है। जगत् का यही मीमांसा सम्मत स्वरूप है। मीमांसा का प्रधान उद्देश्य धर्म की व्याख्या करना है तथा विधि-वाक्यों का प्रतिपादन ही वेद का मुख्य तात्पर्य है। इसलिए किसी प्रयोजन के उद्देश्य से वेद के द्वारा विहित यज्ञादि को करना ही धर्म कहलाता है। वेद-प्रतिपादित कर्म तीन प्रकार का है। प्रथम काम्य— किसी कामना-विशेष के लिए कार्य करना। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत', अर्थात् स्वर्ग की इच्छावालों को यज्ञ करना चाहिए। दूसरा है 'प्रतिषिद्ध'—अनर्थ उत्पादक होने से निषिद्ध कार्य, जैसे—विष दग्ध शस्त्र से मारे गये पशु का मांस नहीं खाना चाहिए। तीसरा है—नित्य-नैमित्तिक कर्म। जैसे, सन्ध्या-वन्दन नित्य कर्म है तथा अवसरविशेष पर अनुष्ठेय श्राद्धादि कर्म नैमित्तिक कर्म है। तालाब, पोखरा, मन्दिर आदि बनाना भी नैमित्तिक है। अनुष्ठान करने पर फल की उत्पत्ति शीघ्र ही नहीं होती, वरन् कालांतर में होती है। अब प्रश्न यह है कि फल-काल में कर्म

की सत्ता के अभाव में फल की उत्पत्ति कैसे होती है ? मीमांसकों का कहना है—'अपूर्व' के द्वारा। प्रत्येक कर्म में अपूर्व (पुण्या-पुण्य) उत्पन्न करने की शक्ति रहती है। कर्म से उत्पन्न होता है अपूर्व तथा अपूर्व से उत्पन्न होता है फल। अतः 'अपूर्व' कर्म तथा फल के बीच की अवस्था का द्योतक है। जैमिनि के अनुसार यज्ञ से ही तत्तत्-फल की उत्पत्ति होती है। फल की उत्पत्ति में ईश्वर कारण नहीं है। 'मीमांसा-दर्शन' निरीश्वर-वादी होते हुए भी देवताओं की पृथक् सत्ता को नहीं मानता। देवता मन्त्रात्मक है। यही मीमांसा का सिद्धान्त है। किसी कामना की सिद्धि के लिए किये गये कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा तथा प्रतिषिद्ध कर्मों का आचरण अशुभ फलों का अवश्य ही उत्पन्न करेगा। नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान मानव-मात्र के लिए नितान्त आवश्यक है। प्रतिषिद्ध कर्मों से निवृत्ति तथा नित्य कर्मों में प्रवृत्ति मोक्ष की साधिका है। कर्म के साथ आत्मज्ञान की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। कर्म प्रधान कारण है, किन्तु आत्मज्ञान सहकारी कारण। अतः मीमांसा-दर्शन कर्त्तव्यशास्त्र की दृष्टि से ज्ञान-कर्म-समन्वय के के सिद्धान्त को मानता है।

६. वेदान्त-दर्शन

वेदांत-दर्शन भारतीय अध्यात्म-ज्ञान का मुकुटमणि है। वेदांत-दर्शन का मूल केन्द्र उपनिषद हैं। मुन्डकोपनिषद वेदांत के महत्त्व को स्वीकार करती है।

'वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः' अर्थात् वेदान्त के सिद्धान्त विज्ञान से संशोधित तथा सुनिश्चित हैं। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने अपने 'प्रस्थान-भेद' में स्पष्ट कहा है—'वेदान्तशास्त्रमेव सर्वेषाम् शास्त्राणां मूर्धन्यम्, शास्त्रान्तरं सर्वमस्यैव शेषभूतम्', अर्थात् वेदान्त ही सब शास्त्रों में मूर्धन्य है और सब शास्त्र उसका ही प्रपञ्च हैं। वेद शब्द विद् धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है जानना। अतः, वेदान्त का अर्थ हुआ, जहाँ जानने का अन्त हो, अर्थात् विश्व के मौलिक तत्त्व का साक्षात्कार। उपनिषद्-प्रतिपादित वेदान्तिक तत्त्वों को जब कालक्रम से एकवाक्यता करने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब उसी कमी की पूर्त्ति के लिए बादरायण व्यास ने 'ब्रह्म-सूत्र' का निर्माण किया।

वेदान्त का यह एक मौलिक सिद्धान्त है कि ब्रह्म ही जीव मात्र के रूप से स्वयं सिद्ध है। कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकता। व्यक्ति सोचता है, इसलिए व्यक्ति के अस्तित्व की सत्ता है। कोई व्यक्ति जबतक अपने अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, तबतक उसे स्वयं अपनी स्थिति का भी ज्ञान नहीं हो सकता। 'मैं' का क्या आधार है, यहीं से वेदान्त का ज्ञान प्रारम्भ होता है। विषय-ज्ञान-अनुभव के भीतर चैतन्य विषयी की सत्ता ज्ञानी रूप से स्वयं प्रमाणित है। वेदान्त का कहना है कि इस 'मैं' का आधार नित्य एवं कूटस्थ सर्वव्यापी ब्रह्म है।

ऋग्वेद कहता है—'एकमेव अद्वितीयम्। एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। एकम् सन्ता बहुधा कल्पयन्ति'। ब्रह्म एक तथा अद्वितिय है। उस एक ही ब्रह्म को विभिन्न तरह से वर्णन किया है। उस एक ही ब्रह्म को विभिन्न कल्पनाओं द्वारा संबोधित किया है। ब्रह्म सभी जगह समान रूप से व्याप्त रहकर स्थान-भेद से परिच्छिन्न-सा मालूम पड़ता है। जहाँ आकाश को भी अवकाश मिलता है, काल (Time) भी जिसकी एक कला ही ठहरता है, जिसमें सभी दिशाएँ समाप्त हो जाती हैं। जिससे महान् से महान् विश्व-ब्रह्माण्डों के नियामक एवं नियन्त्रक प्रादुर्भूत हुए हैं। वही ब्रह्म सर्वत्र आकाश के समान परिपूर्ण है।

यह सभी लोग जानते हैं कि आकाश घड़ा की उत्पत्ति के पहले तथा घड़ा फूटने के पश्चात् भी ज्यों-का-त्यों बना ही रहता है। फिर भी, भ्रमवश यह ज्ञात होता है कि घटाकाश घट की सत्ता रहने पर उत्पन्न होता है तथा घट के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है। वास्तविकता तो यह है कि आकाश परिच्छिन्न हो नहीं सकता। उसी प्रकार ब्रह्म विश्वोत्पत्ति के पहले तथा पीछे समभाव से कूटस्थ एवं अव्यय रूप से वर्त्तमान रहता है। उसी में सभी आनन्द, सभी मोद, सभी प्रमोद और मुद स्थित रहते हैं।

आत्मा के मूलाधार ब्रह्म जन्म लेने के समय कहीं से आता नहीं और न अन्त समय में कहीं जाता ही है; क्योंकि वह

अखण्ड है। आने-जाने का व्यवहार परिच्छिन्न सत्ता में ही हुआ करता है। मनोमय लिङ्ग-शरीर ही जन्म के समय इस लोक में आता है तथा मरने के पश्चात् ऊँच-नीच लोकों में जाता है। वह शरीर की दुर्बलता एवं स्थूलता आदि धर्मों को ग्रहण नहीं करता, वरन् जन्म में किये हुए कर्मों के संस्कारों के साथ इस लोक में आता तथा जाता है।

आत्मा एक और अविचल है, तथापि वह दौड़ते हुए मन के साथ दौड़ता है तथा उसके आगे पीछे सदा वर्त्तमान रहता है। जिस प्रकार समुद्र का जल ही वायु के झोंकों से आलोड़ित होकर तरङ्ग का रूप धारण करता है, किन्तु वस्तुतः आगे-पीछे, बाहर-भीतर सभी जगह जल ही वर्त्तमान रहता है। हवा के शान्त होने पर जल अपने स्वाभाविक स्थिति में आ जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म अपने से ही उद्भूत विवर्त्त रूप मन तथा इन्द्रियादि से ओत-प्रोत रहता है।

ब्रह्म विश्व-प्रक्रिया में अपने को किस क्रम से अभिव्यक्त करता है इस तथ्य का वर्णन करते हुए उपनिषद् कहती है—

'एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथ्वी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुष। स वा एष पुरुषोऽन्न रसमयः। इस प्रकार ब्रह्म से उद्भूत आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई। आकाश से वायु की उत्पत्ति है। वायु से अग्नि। अग्नि से जल। जल से पृथ्वी, पृथ्वी से विभिन्न ओषधियाँ। अर्थात्, नाना

120-H/159 18 3865

प्रकार के पौधे उत्पन्न हुए। ओषधि से अन्न। अन्न से स्थूल मनुष्य-शरीर की उत्पत्ति होती है।

जीवात्मा पर पाँच प्रकार के आवरण चढ़े हुए रहते हैं, जिसे वेदान्त में पंचकोश के नाम से पुकारते हैं। प्रथम अन्नमय कोश होता है, 'अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धते अद्यतेऽति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यते इति।' अर्थात्, पृथ्वी के रूपान्तर अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्न से ही बढ़ते हैं। अन्न को सब प्राणी खाते है तथा अन्त में अन्न भी सब प्राणियों को खा जाता है। इसी लिए अन्न को 'अद्यते अत्ति च इति अन्नम्' कहा जाता है।

दूसरा है प्राणमय कोश, 'एतस्मादन्न रसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्ण। स वा एष पुरुषविध. एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः।

अर्थात्, अन्नमय स्थूल शरीर प्राणमय कोश से आवृत है। शरीर की आकृति के अनुसार ही जीवात्मा के प्राणमय कोश की आकृति रहती है।

तीसरा है मनोमय कोश, एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः।

अर्थात्, प्राणमय जीवात्मा के अन्तःकरण मनोमय-कोश से पूर्णरूप में आच्छादित है। जीवात्मा के शरीर के अनुसार ही मनोमय कोश की भी आकृति रहती है।

चौथा होता है विज्ञानमय कोश, एतस्मान्मनोमयाद्-न्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुष-विध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः।

मनोमय कोश की अन्तरात्मा विज्ञानमय-कोश से पूर्णतः आवृत रहता है। एक होकर विभिन्न रूप से प्रकट होने की प्रक्रिया को विज्ञान कहते हैं। वह विज्ञानमय कोश भी जीवात्मा के मनोमय आकृति के अनुसार ही रहता है।

जीवात्मा का पाँचवा आवरण आनन्दमय कोश कहा जाता है।

एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तरआत्माऽऽनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुष-विधः।

जीवात्मा का विज्ञानमय कोश आनन्दमय कोष से पूर्णतः आवृत रहता है। आनन्दमय कोश भी जीवात्मा के विज्ञानमय कोश की आकृति के अनुरूप ही रहा करता है। इन्हीं आवरण को वेदांत में पंच कोश के नाम से पुकारते हैं। आनन्दमय कोश ही जीवात्मा का अन्तिम रूप है। तैत्तिरीयोप-निषद् ही उसी आनन्दमय रूप को सम्बोधित कर आगे कहती है।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दात् ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

आनन्द ही ब्रह्म का स्वभाव है। आनन्द से ही समस्त

प्राणी उत्पन्न होते हैं। आनन्द से ही जीते हैं। इस लोक से प्रयान करते हुए अन्त में आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।

सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, परम बौद्धिक सत्ता परिव्याप्त रह कर विश्व रूप में अपने को स्वयं प्रकट कर रहा है। समस्त प्राणी अपने आधार प्राण-वायु के सहारे ही जीवित रहते हैं। प्राण-वायु एक होते हुए भी पाँच प्रकार से शरीर में काम करता रहता है। जो प्राण, अपान, समान व्यान, और उदान वायु के नाम से विख्यात है। इस रहस्य को प्रश्नोपनिषद् में महर्षि पिप्पलाद ने अपने शिष्य अश्वलायन को समझाया है—

पायूपस्थे ऽपानं। चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्याम् प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते। मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्हुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति।

लिङ्ग और गुदा में अपान वायु रहता है, जिसका काम है शरीर के मल, मूत्र विकारों को भीतर से बाहर करना। दोनों आँखों से, कानों से, मुख द्वारा गौण रूप से तथा दोनों नाकों के द्वारा प्रमुख रूप से प्राण वायु स्वयं प्रवेश करता है। शरीर के मध्य भाग में समान वायु रहता है। समान वायु के द्वारा ही प्राणियों द्वारा भक्षण किया हुआ अन्न का रस समस्त शरीर में यथायोग्य समभाव से पहुँचता है। इसी समान वायु के प्रभाव से दो आँख, दो कान, दो नाक तथा एक मुख, ये सात उपर की ज्वालाएँ, जो विषयों को प्रकाशित करने वाली हैं, अपने काम को करती रहती हैं। चौथा व्यान वायु की स्थिति के

सम्बन्ध में श्रुति कहती है। 'हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेक शतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिः द्वासप्ततिः प्रति शाखा नाड़ी सहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति।'

हृदय में ही जीवात्मा रहता है। उस हृदय से एक सौ नाड़ियों का समुदाय अपने से नीचे की तरफ गई हुई हैं। फिर उन प्रत्येक नाड़ियों से एक-एक सौ की शाखाएँ फूटती है। फिर उन शाखाओं की प्रत्येक नाड़ियों की बहत्तर-बहत्तर हजार प्रति साखा नाड़ियाँ है। उन समस्त नाड़ियों में व्यान वायु समान गति से विचरण करता रहता है।

पाँचवा वायु है उदान—

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पाप-मुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।

उस हृदय-प्रदेश से तो प्रमुख सौ नाड़ियाँ नीचे की ओर प्रवाहित हुई हैं, जिससे विभिन्न अन्य नाड़ियों का प्रस्फुटन हुआ है। किन्तु उस हृदय-प्रदेश से ही एक नाड़ी उपर की ओर ब्रह्मरन्ध्र तक जा मेरुदण्ड में तेज रूप से प्रवाहित है, जिसे सुषुम्ना नाड़ी भी कहते हैं। उसी में उदान वायु विचरण करता है। यही वायु शरीर में गर्मी को स्थित रखती है। यही वायु पुण्य कर्मों के द्वारा पुण्य लोकों में तथा पाप कर्मों के द्वारा पाप लोकों में मनुष्य को ले जाता है तथा दोनों के समान होने पर मनुष्य-लोक में रखता है।

ब्रह्म अपनी माया-शक्ति से इस विश्व-प्रक्रिया को रचता है।

माया ब्रह्म की क्रियात्मिका शक्ति है। माया की दो शक्तियाँ हैं। प्रथम है, आवरण-शक्ति तथा दूसरा है विक्षेप शक्ति। माया अपनी इन्हीं दो शक्तियों से कार्य करती है। आवरण शक्ति ब्रह्म के सर्व-व्यापी शुद्ध स्वरूप को आच्छादित कर देती है। आवरण शक्ति के द्वारा जब ब्रह्म आच्छादित हो परिच्छिन्न होकर सीमित सा भासित होने लगता है, तभी विक्षेप शक्ति आकाश आदि पंचभूतों का प्रपंच रच विश्व-प्रक्रिया आरम्भ करती है। सर्व प्रथम ब्रह्म का कूटस्थ तेज जीव के चित्तसे बुद्धि में निक्षेपित होकर इन्द्रिय द्वार से बाहर प्रतिविम्बित होता है, बुद्धि में प्रतिविम्बित ब्रह्म तेज, जब इन्द्रिय द्वारों से बाहर निकलता है तभी रूप, रस, शब्द, गंध स्पर्श आदि अनुभूति इन्द्रिय को भाषित होने लगता है।

एक ही ब्रह्म, उपाधि भेद से तीन प्रकार से भासित होने लगता है। एक पूर्ण ब्रह्म, दूसरा आत्मा तथा तीसरा है अनात्मा, अर्थात् जड़ पदार्थ। जो बुद्धि से परे, अर्थात् उसके बाहर भीतर सर्वत्र समभाव से व्याप्त है उसे पूर्ण ब्रह्म कहते हैं। जो ब्रह्म बुद्धि-आवरण से आच्छादित है, उसका नाम आत्मा है। तथा बुद्धि में प्रतिविम्बित बाह्य जगत् की वस्तुएँ ही अनात्मा, अर्थात् भौतिक जड़ पदार्थ होती है। इस तत्त्व को अन्य प्रकार से भी समझ सकते हैं। जैसे जल में एक ही आकाश के तीन भेद होते देखे जाते हैं। मान लीजिए कोई पोखरा है, उस पोखरे के जल का आयत आकाश से घिरा हुआ होता है। जिसे जला-

वच्छिन्न आकाश कहते हैं। दूसरा, पोखरे के ऊपर व्याप्त आकाश स्थित तारामंडल आदि अपने अनुपम सौन्दर्य सहित जल में प्रतिभासित होते मालूम पड़ते हैं। तीसरा, वह सर्वव्यापी अनन्त आकाश है, जो उस पोखरे में जलावच्छिन्न तथा प्रतिविम्बित होते हुए भी निरन्तर तत्त्वतः एक बना हुआ अविचल रहता है।

सूर्य के उत्ताप से ही उत्पन्न बादल बड़े भारी सूर्य-मण्डल को आच्छादित कर देती है। बादल न तो पहले ही था और न पीछे ही रहेगा। वह तो बीच ही में दिखने लगा है। वास्तविकता तो यह है कि वह देखनेवाले की दृष्टि को ही आच्छादित करता है, सूर्य मन्डल को नहीं। यदि वास्तविक रूप में सूर्य बादल से छिप जाता, तो द्रष्टा की दृष्टि के प्रकाशक स्वयं सूर्य के अभाव में, आखों में देखने की शक्ति ही नहीं आती। क्योंकि सम्पूर्ण दृश्य वर्ग के प्रकाशक तो सूर्य ही है। उसी प्रकार इस दृश्यमान जगत् के दिक् (Space) और काल (Time) जो पदार्थ-विज्ञान का स्वाभाविक अवस्थिति है, प्राणियों की बुद्धि को ही आवृत करते हैं, अपने प्रकाशक एवं प्रेरक परमात्मा को नहीं। ब्रह्म ही व्यापक और व्याप्त रूप से स्वयं विस्तृत है। जगत् की समस्त विभिन्न वस्तुओं के मौलिक तत्त्व में उसके परमाणुओं का रूप धारण कर ब्रह्म स्वयं ही वस्तुओं के रूप में प्रकट है।

निजानन्द में विश्रान्त ब्रह्म में ही उनकी समस्त अन्य शक्तियाँ छिपी हुई रहती हैं। इस अवस्था में ब्रह्म निस्पन्द एवं

स्थित रहता है। किन्तु, इस कैवल्य स्थिति में निःस्पन्द रह कर ब्रह्म अकेलापन का अनुभव करता है। इसलिए 'लोकवत् तु लीला कैवल्यम्' (ब्रह्म सूत्र)। ब्रह्म जगत् का केवल लीला के लिए ही सृष्टि करता है। जैसे सभी कामनाओं से पूर्ण कोई सम्राट् केवल लीला के लिये ही क्रीड़ा विहार में प्रवृत्त होता है। ऋग्वेद कहता है कि शून्यवत स्थित ब्रह्म में जब चित् शक्ति का स्फुरण होता है, तब वह स्वयं प्रकाश स्वरूप हो जाता है।

इस सृष्टि प्रक्रिया के उन्मेष और निमेष तो उस सच्चिता-नन्द ब्रह्म का लीला मात्र ही है। वैज्ञानिक निष्कर्षों का सत्, दार्शनिक विवेचनों का चित्त तथा कला की अन्तिम परिणति आनन्द का समिष्टि रूप ही सच्चितानन्द के नाम से प्रकट किया गया है। तत्त्वतः सत्-चित्त-आनन्द स्वरुप विराट् सत्ता के शक्ति-तरङ्गों का केवल उद्वेलन मात्र ही तो यह विश्व है। चर-अचर या जड़-चेतन का प्रतीती तो मिथ्या बुद्धि का प्रपंच है। भौतिक विज्ञान का जो सत् है वह संचलन स्वरूप है।

ब्रह्म की शक्ति-संचलन तरङ्गो के अतिरिक्त इस जगत् की सत्ता का अन्य कोई वैज्ञानिक कारण ही है नहीं। आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक इस शक्ति-संचलन को सृष्टि तरङ्ग (Cosmic vibration) की संज्ञा देते हैं। ब्रह्म से निर्देशित सृष्टि तरंग, अणु-परमाणुओं से सौर-मण्डल के ग्रह-नक्षत्र आदि तक

निरन्तर तरंगायित होती रहती है। ब्रह्म के भौतिक स्वरूप का एतरेयोपनिषद् वर्णन करते हुए कहती है।

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानम् मेधा दृष्टिधृर्तिमतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः सकल्पः क्रतुरसुकामो वश इति सर्वान्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।

अर्थात्, जो तत्त्व हृदय में स्थित है, वही मन के रूप में प्रकट है। विश्व के समस्त वस्तुओं के विभिन्न संज्ञात्मक नाम, आदेश–शक्ति, किसी वस्तु को विभिन्न रूप से जानने की शक्ति, प्रज्ञान-शक्ति (Suprim intelligentia) धारणा-शक्ति, स्मरण-शक्ति, संकल्प-शक्ति, मनोरथ-शक्ति, प्राण-शक्ति, कामना-शक्ति, स्त्री-संसर्ग की अभिलाषा आदि इन समस्त शक्तियों के अस्तित्व रूप में स्वयं प्रज्ञान स्वरूप परमेश्वर ही विराजते रहते हैं, चित्त और उसकी वृत्तियाँ भी तो अज्ञान ही के स्वरूप हैं। ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर चित्त-प्रतिबिम्ब अपने ब्रह्म स्वरूप में लौट जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् कहती है—रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यत्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात। एष ह्येवानन्दयति।

जीवात्मा अपने स्वात्मा के रहस्य को जानकर आनन्दित हो जाता है। यदि परमात्मा आकाश की भाँति व्यापक नहीं होता, तो कौन प्राणों की क्रिया करता तथा कौन जीवित रहता। निःसन्देह परमात्मा से ही सबको आनन्द प्राप्त होता है।

आलोकपुरुष ही एकमात्र सत्ता के रूप में प्रतिभासित हो रहा है। अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड उन्हीं की अनन्त स्पन्दन से परिव्याप्त है। उसका सर्वांग ज्योतिष्पूर्ण है। अपने अन्तर्निनाद से ओतप्रोत वह अखिल चित्तसत्ता सुरम्य स्वर-लहरी से युक्त आनन्दमय हो नृत्य में तन्मय है। वह चित्त-सत्ता सृष्टि-तरङ्ग में अपने को तरङ्गायित कर विश्व के विभिन्न वस्तुओं का रूप स्वयं धारण करती रहती है, जिसे सृष्टि का उन्मेष तथा उसके अन्त को निमेष कहते हैं। शक्ति-तरङ्ग के इस नित्य प्रवाह में प्रतिक्षण असंख्य ब्रह्मांडों का आविर्भाव तथा तिरोभाव होता रहता है। शक्ति-तरङ्ग के इस नित्य प्रवाह में प्रतिक्षण असंख्य ब्रह्माण्ड चक्रों के आविर्भाव तथा तिरोभाव के संचालक का ही नाम ब्रह्म या ईश्वर है। दृश्य-जगत् तथा अन्तर्जगत् दोनों में ब्रह्म की लीला हो रही है। वाह्य-जगत् की लीला को चर-अचर समस्त द्रष्टा-वर्ग देख रहा है तथा अन्तरात्मा के रङ्ग-मंच पर होने वाली लीला को स्वयं अपने इन्द्रिय-समुदाय ही देख रहा है। उसी सच्चिदानन्द ब्रह्म का उत्क्षेपण (Projection) यह प्रत्यक्ष जगत् भाषित हो रहा है।

वेदान्त के सिद्धांतानुसार पाँच प्रकार से ब्रह्म की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हो रही है। प्रथम है 'अस्ति', अर्थात् वह ब्रह्म जगत् सत्ता रूप से स्वयं प्रकट है। दूसरा है 'भाति', अर्थात् समस्त नाक्षत्रिक ज्योतिर्मण्डल रूप से वही प्रकाशित है। तीसरा रूप है

'प्रिय' अर्थात् समस्त प्रेमी जनो के प्रिय स्वरूप में जो आनन्द है वह भी ब्रह्म ही है। चौथा 'नाम' है तथा पाँचवा है 'रूप'। अर्थात् जगत् में जीतने नाम और रूप हैं सब के सब ब्रह्म का नाम और रूप है।

उस ब्रह्म का कोई कारण है नहीं, वह अपना कारण स्वयं आप ही है। श्वेताश्वतरोपनिषद् कहती है।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।
न तत्समश्चभ्यधिकश्च दृश्यते॥
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।
स्वभाविकी ज्ञान बल क्रिया च॥

ब्रह्म का न कोई कारण है, न कार्य। उनके सामने दूसरी कोई सत्ता है भी नहीं। उनके विभिन्न अव्यक्त शक्तियों के विषय में भिन्न-भिन्न रूप से सुनते रहते हैं तथा जो ज्ञान, बल, क्रिया के रूप से प्रकट होते रहता है।

वैदिक काल से ही अद्वैतवाद का सिद्धान्त विभिन्न रूपों से भिन्न-भिन्न परिस्थितियों से क्रमशः प्रवाहित होता हुआ आ रहा है। उपनिषद्-काल के पश्चात् उसके प्रतिक्रिया-रूप नास्तिक आजीवक तथा चार्वाक के भौतिकवाद का प्रचार बढ़ने लगा था। बौद्धधर्म के उत्पन्न होने के पहले भारत में चर्वाक का नास्तिकवाद पूर्ण रूप से परिव्याप्त हो रहा था। उसी समय बौद्धदर्शन ने अपने शून्याद्वैत, तथा विज्ञानाद्वैत के अमोघ अस्त्र द्वारा उस नास्तिकता का खण्डन किया।

बौद्धदर्शन का भी मूलाधार उपनिषद् ही है। विश्वप्रपंच का मूल कारण अविद्या, तृष्णा तथा राग-द्वेष के बन्धनों से मुक्त होना उपनिषद् तथा बौद्धदर्शन दोनों का मुख्य उद्देश्य रहा है।

बुद्धदेव ने अद्वैत-वेदान्त के व्यवहार-पक्ष को ही जीवन में चरितार्थ करने पर जोर दिये। योगाचारों के विज्ञानाद्वैत के सिद्धान्तानुसार चित्त में अनन्त विज्ञानों का उदय होता रहता है। ये विज्ञान स्व-प्रकाश हैं। अविद्या के कारण ही चित्तमें ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेय की कल्पना हमलोग कर लेते हैं। विज्ञानाद्वैत में बाह्य जगत् की सत्ता है ही नहीं। अर्थात् यह जगत् उसी विज्ञानाद्वैत में समाविष्ट है। ये लोग केवल चित्त-सन्तति की सत्ता को मानते हैं तथा जगत् की समस्त वस्तुओं को ज्ञान के विभिन्न रूप कहते हैं।

बौद्धदर्शन अपने तत्त्व-चिन्तन के दार्शनिक सिद्धान्त शून्यवाद की परिभाषा देते हुए कहता है कि शून्य ही सर्वश्रेष्ठ एक प्रत्यक्ष परम तत्त्व है। वह न सत् है, और न असत ही है। वह सत् और असत् दोनों भी हो सकता है। वह शून्यतत्त्व ऐसा भी हो सकता है जो सत् और असत् की सापेक्षता की परिभाषा से भिन्न ही एक अनिर्वचनीय तत्त्व हो। बौद्धदर्शन उसे ही शून्य कहता है।

बुद्धदेव ने अद्वैतवाद का सर्व-साधारण के बीच प्रचार किया, जिसके परिणामस्वरूप उस समय समस्त भारत बौद्ध-धर्म में दीक्षित हो चला। बुद्धदेव के तिरोभाव के एक

हजार वर्ष बाद भारत में फिर भौतिकवादी नास्तिकता का प्रचार बढ़ने लगा। इसका कारण यह था कि अत्यधिक मनुष्य कुसंस्कारी होते हुए भी बौद्धधर्म ग्रहण कर सदाचारी बन गये थे। भिक्षुक-भिक्षुणियों के सहवास से समाज में विभिन्न रूप से व्यभिचार को प्रोत्साहन मिलने लगा था। बहुत से छद्मवेषधारी बौद्ध आचार्य तन्त्र-मन्त्र तथा भूतप्रेत में विश्वास करने लगे थे। उस समय भारत कर आकाश नास्तिकता के बादलों से फिर आच्छादित हो चला। अच्छे परिवारों के लोग स्वेच्छाचारी तथा साधारण लोग कुसंस्कारी बनने लगे थे। ऐसी ही विषम परिस्थिति में भगवान् श्री शंकराचार्य दक्षिणी भारत के केरल में अवतीर्ण हुए। जिन्होंने अद्वैतवाद की ज्योति को फिर से प्रज्जवलित किया।

श्वेताश्वेतरोपनिषद् अन्तिम परम अद्वैत तत्त्व का विश्लेषण करती हुई कहती है—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यम् हि किञ्चित्। भोक्ता भोग्यं प्ररितारंच मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मेतत्।

अर्थात्, अपने ही आत्मा में नित्य ब्रह्म को स्थित जानना चाहिए। इससे बढ़कर जानने योग्य तत्त्व इस जगत् में और कुछ है ही नहीं। वही ब्रह्म भोक्ता (जीवात्मा) भोग्यं (भौतिक जगत्) तथा इन दोनों के प्रेरक (परमेश्वर) अपने तीन रूपों से सभी जगह, स्थित है। अर्थात्, भोक्ता, भोग्य एवं प्रेरयिता

इन तीन रूपों में एक ही ब्रह्म के तीन अवस्था-भेद हैं। अतः, तत्त्व एक है, तीन नहीं।

यद्यपि बौद्धधर्मान्तगत माध्यमिकों का शून्याद्वैत, योगाचारों का विज्ञानाद्वैत, शाक्तों का शक्त्याद्वैत, मण्डन मिश्र का शब्दाद्वैत, ये सब-के-सब शंकराचार्य के पूर्ववर्त्ती अद्वैतवाद के विभिन्न परिस्थितियों के विकसित भिन्न-भिन्न रूप हैं, जो कालक्रम से प्रवाहित होते हुए आ रहे थे।

शंकराचार्य ने 'ब्रह्म-सूत्र' पर जो भाष्य लिखा उसका शारीरक मीमांसा नाम रखा। 'शरीरमेव शारीरकं, तत्र निवासी शारीरको जीवात्मा। तस्य त्वंपदाभिधेयस्य तत्पदाभिधेय परमात्मरूपता मीमांसा (शारीरक-मीमांसा); शरीर में ही उसके निवासी जीवात्मा रहता है। अतः, जीवात्मा रूप से विचरनेवाले परमेश्वर का सम्यक् ज्ञान शरीर में ही प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए शंकराचार्य ब्रह्म-सूत्र के अपने भाष्य का शारीरक-मीमांसा नाम रखा। वेदांत कहता है कि जो तत्त्व पिण्डांड में है वही तत्त्वब्रह्मांड में है। परम तत्त्व एक है। शंकर के अद्वैत-वेदांत में निर्विशेष ब्रह्म से इस सविशेष दृश्य जगत् की उत्पत्ति किस क्रम से हुई है, इसका उत्तर जानने के लिए उनके द्वारा प्रतिपादित माया के स्वरूप को जानना अत्यावश्यक होता है। अपने शारीरक-भाष्य में शंकराचार्य माया और अविद्या के मूल स्वरूप को एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। "अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्त-

शब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः यस्यां स्वरूप-प्रतिबोधरहिता शेरते संसारिणो जीवाः। (शारीरक मीमांसा)

"अविद्या का मूल कारण माया है, जो अव्यक्त है। वह माया परमेश्वर के आश्रित है। इसका स्वरूप वैसा ही है, जैसा प्राणिमात्र सुषुप्ति-अवस्था में अपने को अनुभव करता है। उस माया में संसार के वे ही प्राणी सोते हैं, जो अपने स्वरूप के वास्तविक रूप को नहीं जानते।"

जिस प्रकार अग्नि से उसकी दाहिका शक्ति अलग नहीं की जा सकती, उसी प्रकार ब्रह्म की शक्ति माया ब्रह्म से अलग नहीं रह सकती। जैन दर्शन अपने स्याद्वाद के सिद्धान्त को भी सापेक्ष रूप में ही व्यक्त करता है। बौद्ध दर्शन में जिस प्रकार शून्याद्वैत तथा विज्ञानद्वैत का सापेक्ष रूप में प्रतिपादन किया गया है। उससे बहुलांश मिलती-जुलती समानार्थक माया का प्रतिपादन शंकराचार्य करते हुए कहते हैं, वह माया न सत् है और न असत् ही। सत्य और असत्य भाषाविज्ञान से सापेक्ष शब्द है। भाषा का अस्तित्व ही द्वन्द्वात्मक है। अतः, माया को सत्य कह नहीं सकते; क्योंकि आत्मज्ञान होने पर उसका विलीनीकरण हो जाता है। वह अनिर्वचनीय है। शांकर वेदांत में दिक् (Space) और काल (time) की उपाधि से ही द्वैतभाव की उत्पत्ति होती है और वर्त्तमान की कल्पना काल पर आश्रित है। चित्त से युक्त रहने पर ही जीवात्मा को चिदात्मबुद्धि से देश और काल का भान होता है। ('माया-

कल्पित देश-काल-कलना वैचित्र्यचित्रीकृतम्' (शांकर भाष्य) इस० विश्व की विचित्र दृश्यावलियों में माया से ही देश और काल (time) की सुन्दर कल्पना भ्रमवश कर ली गई है, जिससे यह जगत् सीमा से आबद्ध होकर प्रत्यक्ष हो रहा है।

अत्याधुनिक भौतिक वैज्ञानिकों का यह प्रयत्न रहा है कि दिक् और काल के रहस्य को प्रकट किया जाय, किन्तु यह रहस्य अब तक अस्पष्ट ही है। पृथ्वी के अपने केन्द्र सूर्य के चारों ओर घूमने की गति के वेग-मापक-ज्ञान को ही सामान्यतः सार्वभौमिक रूप से काल की संज्ञा दी जाती है। अतः पृथ्वी के वेग-मापक-ज्ञान को 'काल' कहते हैं। हमलोग दिन, मास, वर्ष तथा घण्टा, मिनट और सेकेण्डों में विभक्त कर उसे समझते हैं। काल के ज्ञान में भूतकाल विगत हो चुका है। भविष्य का तो अभी जन्म ही नहीं हुआ है।

विश्व के समस्त दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों द्वारा काल का निर्णय करने में जो अन्तिम निष्कर्ष निकाला गया है, वह वर्त्तमानकाल में ही प्रवाहमाण है। प्रस्तुत वर्त्तमान काल का प्रवाह ही भूतकाल तथा भविष्यत् काल को सम्बद्ध किये रहता है।

अत्याधुनिक ज्योतिर्विद् पृथ्वी की गति से भी तीव्रतर अन्य बड़े-बड़े ग्रहों को आकाश में गतिमान् देख रहे हैं। वे वैज्ञानिक पृथ्वी की गतिमाप के अनुपात से ही ग्रहों की गतियों को मापने का प्रयास करते हैं। जहाँ दिक् के स्थान-विस्तार में गति का ज्ञान नहीं होता, वहाँ काल का भी ज्ञान नहीं हो सकता। स्थान-विस्तार में भौतिक द्रव्य की गति की सापेक्ष प्रवाहमयता को ही आधुनिक

वैज्ञानिक सापेक्षवाद का सिद्धान्त के नाम से सम्बोधित करते हैं। भौतिक द्रव्य अपने में निहित गुण को दिक् के स्थान-विस्तार में प्रसारित करता है तथा उस प्रसारित गुण के पुनः द्रव्य-रूप से अपने में केन्द्रीकरण होने की प्रक्रिया को ही आधुनिक सापेक्ष-वाद का सिद्धान्त कहते हैं (Concentration of energy in to matter is called birth and dissolution of matter in to energy is called death. Motion and distance are always relative) सापेक्षवाद के दार्शनिक एवं वैज्ञानिक आधार का विश्लेषण करते हुए आधुनिक अणु-शक्ति के आविष्कारक आइन्सटीन कहता है—"All motions are relative, bodies move relatively to one another; the speed of a body is measured in relation to another, which is supposed to be at rest, but there are no bodies in absolute rest."

समस्त गतियाँ सापेक्ष हैं। समस्त नक्षत्र एक दूसरे की सापेक्ष गतिमयता से ही प्रवाहित हैं। नक्षत्रों को एक दूसरे से गतिशील बनाने में सापेक्षता के सिद्धान्त लगे हुए हैं। यद्यपि वे नक्षत्र स्थित-सा प्रतीत होते हैं, किन्तु वे वास्तव में स्थित हैं नहीं।

रेलगाड़ी पर बैठे मनुष्य को मालूम होता है कि जिस गाड़ी पर वह बैठा है, वह गाड़ी तो स्थित है, तथा आसपास की दृश्या-वलियाँ ही भागती हुई दृष्टिगत होती हैं। नाव पर बैठे व्यक्ति को पानी ही चलता सा मालूम पड़ता है। जब कभी बादल चन्द्रमा के ऊपर से निकलता है, तब मालूम होता है कि

चन्द्रमा ही चल रहा है। किन्तु, ये सब-के-सब द्रष्टा को सापेक्षवाद के सिद्धान्त से अनभिज्ञ रहने के कारण ही भ्रान्त-से ज्ञात होते हैं, वास्तविकता तो इसके विपरीत ही रहती है।

भारतीय तत्त्वज्ञानियों ने जगत् के तात्त्विक सापेक्षिक स्वरूप का वर्णन उपनिषदों में मौलिक रूप से किया है। जिसे पाश्चात्य आधुनिक वैज्ञानिक अपनी पद्धति से उद्घाटित कर भौतिक जगत् में उसको क्रिया रूप में प्रयोग कर दिखलाया है। जिसे आधुनिक वैज्ञानिक सापेक्षवाद का सिद्धान्त कहा है उसे ईशावास्योपनिषद् कहती है—

तदेजति तन्नेजति तद् दूरे तद्वन्तिके!
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

'वह चलता है, वह न भी चलता है, सूदूर में भी वही है, समीप में भी वही प्रत्यक्ष हो रहा है। सब का अन्तःकरण एवं जगत् के भीतर तथा बाहर भी वही है।' वह आत्मतत्त्व चलता भी है तथा नहीं भी चलता। समस्त ग्रह-नक्षत्र चलते हुए ज्ञात होते हैं, किन्तु जब उसकी गति के सापेक्ष सिद्धांत के रहस्य मालूम हो जाते हैं, तब वह ग्रह-नक्षत्र तथा आत्मतत्त्व सब-के-सब अनन्त में कूटस्थ एवं स्थित प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात्, उसकी गति का वास्तविक रहस्य प्रकट हो जाता है।

हाँ, तो शंकराचार्य दिक् और काल को मायाकल्पित तथा विचित्र विश्वचित्र के नाम से संबोधित करते हैं। शांकर वेदांत में चित्त और उसकी वृतियाँ अज्ञान-स्वरूप कल्पित हैं। ब्रह्म-साक्षात्कार से चित्-प्रतिबिम्ब लौटकर पुनः ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है। 'एकमेवाद्वितीयं

नेह नानास्ति किञ्चन' (अध्यात्मोपनिषद्)। शंकराचार्य चित्त-शुद्धि के लिए निष्काम कर्म को अत्यावश्यक मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि चित्त की शुद्धि निष्काम कर्म से ही होती है, सकाम कर्म से नहीं। किन्तु, केवल निष्काम कर्म से ही आत्मा कृतार्थ होती नहीं, वह तो ब्रह्म-साक्षात्कार से ही कृतार्थ होती है। जिस प्रकार, काँटा से काँटा निकाला जाता है, उसी प्रकार निष्काम कर्म से देहाभिमान को भी हटाया जा सकता है। न्याय-दर्शन ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण मानता है, किन्तु वेदान्त में ईश्वर ही जगत् का निमित्त तथा उपादान दोनों ही कारण है।

कुछ विदेशी विद्वानों ने शंकराचार्य पर संन्यास-मार्ग के अनुयायी होने के कारण उन पर अकर्मण्यता के प्रचारक होने का दोषारोपण किया है। किन्तु, यह दोषारोपण भारतीय तत्त्वज्ञान को अल्प क्षमता से समझने के कुपरिणाम का ही द्योतक है। यदि हम उनके जीवन को ही देखें, तो बत्तीस वर्ष की अल्प आयु में ही वेद-वेदाङ्ग के भाष्य के अतिरिक्त भ्रमण कर समस्त भारत-व्यापी बौद्ध धर्म को, अपने ही मूल स्थान से उसकी तत्कालीन विकृति के कारण, निष्कासित कर दिया। क्या विश्व में ऐसी कर्मठ एवं तत्त्वज्ञान से युक्त व्यक्ति कोई दूसरा भी है? शंकराचार्य के पश्चात् वेदान्त के चार महान् व्याख्याता दक्षिण-भारत में हुए हैं। उन्होंने वेदान्त की विभिन्न दृष्टिकोण से व्याख्या कर जन-मानस को वेदान्तिक अमृत का पान करा के समस्त भारत को अनुप्राणित किया तथा अपनी-अपनी व्याख्या के आधार पर उन्होंने अलग-अलग सम्प्रदायों की भी स्थापना की।

रामानुज—तामिलनाड के महान् वैष्णव भक्त हो गये हैं। उन्होंने श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्रतिपादित (भोक्ता भोग्यं प्रेरितारम् च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्) को ही अपने दार्शनिक सिद्धांत का मूलाधार माना है। इनके सिद्धान्तानुसार भोक्ता चित् और भोग्य अचित्, अर्थात् भौतिक जगत् स्वतन्त्र तथा नित्य पदार्थ हैं। ये दोनों ईश्वर के अधीन रहते हैं। चित् और अचित् को अपने अधीन में रखकर ईश्वर प्रकट होता है। अर्थात्, जीव और जगत् का नियामक ईश्वर है। अतः, तत्त्व तीन हैं—नियामक ईश्वर के द्वारा नियन्त्रित होने के कारण जीव तथा जगत् ईश्वर का नियम्य है। इसलिए जीव और जगत् का नियामक होने से ईश्वर विशेष है, तथा जीव और जगत् नियम्य होने से ईश्वर का विशेषण है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म ही ईश्वर है तथा उसके शरीर से युक्त होते हुए भी जीव और जगत् उससे भिन्न तथा नित्य है। अतः, पदार्थ तीन हैं, एक नहीं। विशेष्य और विशेषण के साथ अद्वैत मत को मानने के कारण रामानुज-मत को 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं। रामानुज ने विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त को अपने पूर्वाचार्य 'बोधायन' के भाष्य का अनुसरण करके ही वेदान्त-सूत्रों की व्याख्या की है। 'भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्र वृत्ति पूर्वाचार्य संचिक्षिपुः तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते' (रामानुज-भाष्य), अतः पूर्वकाल से ही द्वैतवादी सिद्धान्त भी क्रमिक रूप से प्रवाहित होता हुआ क्रमशः आ रहा था, जिसे रामानुज ने अपने काल में प्रतिनिधित्व कर उसे फैलाया।

वल्लभाचार्य—तेलगु-भाषाभाषी होते हुए संस्कृत के महान् विद्वान् वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके मत से ब्रह्म माया से अलिप्त रहता है तथा नितान्त शुद्ध है। माया-सम्बन्ध से रहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्त्व है, जिसे शुद्धाद्वैत कहते हैं। वह अनेक होकर भी एक है। स्वतन्त्र होकर भी भक्त-पराधीन है। यह जगत् लीला-निकेतन ब्रह्म की ललित लीलाओं का विलासमात्र है। यह जगत-कर्तृत्व वास्तविक है, माया-कल्पित नहीं। इस मत में ब्रह्म तीन प्रकार से प्रकट है। प्रथम आधिदैविक रूप, जिसे ब्रह्म कहते हैं। दूसरा है आध्यात्मिक, जिसे अक्षर ब्रह्मकहते हैं तथा तीसरा अधिभौतिक है, जो प्रत्यक्ष भौतिक जगत् रूप से प्रकट है। अतः जगत् ब्रह्म स्वरूप है। इसे ही 'शुद्धाद्वैत' कहते हैं।

मध्वाचार्य—कर्नाटक के मध्वाचार्य द्वैतमत के प्रचारक थे। उन्होंने भगवान् के साथ चैतन्यांश को लेकर ही जीव की एकता प्रतिपादित की है। परन्तु समस्त गुणों पर दृष्टिपात करने से जीव और ईश्वर का अस्तित्व अलग-अलग ज्ञात होता है। इस प्रकार, द्वैतवादी माध्वमत में इस जगत् की उत्पत्ति में परमात्मा केवल निमित्त कारण है तथा प्रकृति उसका उपादान कारण है।

निम्बार्काचार्य—ब्रह्म तथा जीव के सम्बन्ध में भेदाभेद या द्वैताद्वैत के दार्शनिक सिद्धान्त को मानते हैं। जीव अवस्था-भेद के कारण ब्रह्म के साथ भिन्न भी हैं तथा अभिन्न भी। वह ब्रह्म-रूप में एक है, तथा जगत्-रूप से अनेक है। ब्रह्म एक होने पर

भी समुद्र-तरङ्ग-न्याय से द्वैताद्वैत है। जिस प्रकार समुद्र-स्वरूप से तो समुद्र की एकता है, परन्तु, विकार-रूप तरङ्ग नानात्मक है। ब्रह्म भी उसी प्रकार से द्वैत होते हुए भी अद्वैत है; अतः, इस सिद्धान्त को द्वैताद्वैत-सिद्धान्त कहते हैं।

भारतवर्ष के प्राचीन तथा आधुनिक के जितने दार्शनिक सिद्धान्त हैं, वे सब-के-सब उपनिषद् अथवा वेदान्त पर ही आधारित हैं। अद्वैतवादी हो या द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी हो या शुद्धाद्वैतवादी, सब-के-सब उपनिषदों की ही एक स्वर से प्रमाणिकता स्वीकार करते हैं। इन समस्त सिद्धान्तों में प्रमुख रूप से दो ही दार्शनिक सिद्धान्त प्रमुख हैं। अद्वैतवाद तथा द्वैतवाद। प्राचीन काल से अद्वैतवाद के कई मूल दार्शनिक सिद्धान्त काल-क्रम से प्रवाहित होते हुए आ रहा था, जिसे शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त सब को अपने में समाविष्ट कर नवीन संस्कार किया। द्वैतवाद के अन्तर्गत ही विशिष्टाद्वैतवाद आदि नाम है। इनमें कुछ तो आधुनिक है तथा कुछ पुराने सिद्धान्तों का नया संस्करण है। अद्वैतवाद के प्रतिनिधि शंकराचार्य हैं, तो द्वैत-वाद के रामानुज। रामानुज के अनुयायी आत्मा को अणु, अर्थात् अत्यन्त छोटा कहते हैं, किन्तु शंकराचार्य के मत में आत्मा विभु, अर्थात् सर्वव्यापी है। रामानुज व्यष्टि पर जोर देते हैं, तो शंकराचार्य समष्टि पर। दोनों दर्शन एक दूसरे के पूरक के रूप में प्रकट हुए हैं। व्यष्टि और समष्टि के समन्वय होने पर ही आत्म-साक्षात्कार या अपरोक्षानुभूति होती है।

यूरोपियन दार्शनिक चिन्तन-धारा के क्रमिक विकास

विश्व के सुदूर अतीत काल में समान आकार-प्रकार, समान वंश तथा समान भावनाओं से पूर्ण दो भिन्न-भिन्न जातियाँ भिन्न-भिन्न मार्गों से जगत् के अन्तिम परम तत्त्व के अनुसंधान करने में प्रवृत्त हुई थी। यूरोप के लोगों की संस्कृति बाह्य-जगत् के तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए अग्रसर हुई। तथा भारतीय संस्कृति ने अन्तर्जगत् का विश्लेषण कर परम तत्त्व का अनुसंधान किया। इन दोनों महाद्वीपों के जातियों के दार्शनिक इतिहास का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि पश्चात् भौतिकवादी दार्शनिक व्याख्या तथा भारतीय अध्यात्मवादी व्याख्या दोनों अपने सुदूर लक्ष्य पर पहुँच एक ही सत्य की प्रतिध्वनि करते हैं।

यूरोपियन देशों में सबसे प्रथम यूनान में ही दार्शनिक चिन्तन प्रारम्भ हुआ। यूनान में जो प्रारम्भिक दार्शनिक हुए थे, वे जड़ तथा चेतन का भेद नहीं कर सके। उन्हें जड़-तत्त्व तथा चेतन-तत्त्व को विभक्त कर समझने में कोई रहस्य मालूम ही नहीं होता था। बहुत दिनों तक दर्शन का मुख्य प्रश्न यही बना रहा कि वह कौन-सा प्रथम द्रव्य है, जिससे यह जगत् उत्पन्न हुआ? मनुष्य तथा अन्य जीव-जन्तु अन्न से उत्पन्न होते देखे जाते हैं तथा मिट्टी से अन्न उत्पन्न होता है।

जल ही जमते-जमते मिट्टी का रूप धारण करता है तथा गर्मी पड़ने पर शरीर से पसीना जल-रूप से निकलता है।

ऐसी-ऐसी बातों को देखकर प्राचीन दार्शनिकों में किसी ने जल को, तो किसी ने आग को तथा किसी ने वायु तथा किसी ने अव्यक्त द्रव्य को संसार का प्रथम उपादान-कारण माना। इस सिद्धान्त को माननेवाले दार्शनिकों का नाम थेलिज, एनैक्सिमैण्डर तथा पीथागोरस है। इन लोगों ने अपना दार्शनिक निष्कर्ष यह निश्चित किया कि मिट्टी, जल, वायु आदि में ही जीवनी-शक्ति लगी हुई है। इसलिए उस समय आत्मा और ईश्वर आदि का प्रश्न उठा ही नहीं। पहले-पहल जल आदि को किसने बनाया, यह प्रश्न भी नहीं उठ सका था।

इन खोजों के बाद लोगों में यह शंका उत्पन्न होने लगी कि यह जगत् जैसा दिखलाई पड़ रहा है, क्या ठीक वैसा ही है। इस जगत् में परिवर्त्तन दीख रहा है; क्या यह परिवर्त्तन वास्तविक है या केवल इन्द्रियों से इसका सम्बन्ध होने के कारण ऐसा परिवर्त्तित होता हुआ भासित हो रहा है या वस्तुतः यह अपरिवर्त्तनीय ही है।

एक पक्षवाले दार्शनिक जगत् को केवल भाव-स्वरूप मानते थे, तो दूसरे पक्षवाले दार्शनिक इसमें प्रतिक्षण परिवर्त्तन मानते रहे। परिवर्त्तन माननेवाले सबने नियतिकृत परिवर्त्तन माना है।

अन्त में इन बातों से असन्तुष्ट होकर कुछ दार्शनिकों ने चार तत्त्व माना, तो कुछ ने पाँच तत्त्वों से इस सृष्टि की समस्त रचना का बनते हुए प्रमाणित किया। उन्हें किसी एक पदार्थ से सब पदार्थों का बनना असम्भव-सा जान पड़ा।

इसके बाद दूसरे दार्शनिकों ने परमाणुओं से संसार का निर्माण होते माना। जब मूर्त्त वस्तुओं के बाहरी उपादान कारणों की खोज हो रही थी उसी समय कुछ दार्शनिकों ने आत्मा को अमर तथा एक शरीर से दूसरे शरीर में जानेवाली माना। जिससे उस समय आत्मा और शरीर का भेद स्पष्ट होने लगा।

इसके बाद के दार्शनिकों ने सृष्टि आदि के विषयों को कल्पनाओं का व्यर्थ प्रपंच समझा। वे लोग यह विचार करने लगे कि मनुष्य का ज्ञान वस्तुतः ठीक है या भ्रम है। मनुष्य का कर्त्तव्य क्या होना चाहिए? इन सब बातों का तार्किक लोगों ने विचार करना आरम्भ किया तथा उन्होंने प्रमाणित किया कि वास्तविक तत्त्व का पता मनुष्य नहीं लगा सकता। सृष्टि आदि पर विचार करना व्यर्थ है, इन्हें छोड़कर सुख और शान्ति से जीवन बिताना चाहिए।

इसके बाद अपने समय के सबसे बड़े दार्शनिक सुकरात ने इन सब तार्किकों के सिद्धान्तों का खंडन कर यह प्रमाणित किया कि समस्त मानव में जो विश्वव्यापी सामान्य-वस्तु-ज्ञान है, वही पारमार्थिक ज्ञान है। पारमार्थिक ज्ञानवाले मनुष्य अनर्थ कभी

कर नहीं सकते। इस प्रकार सुकरात ने विभिन्न आवश्यक विषयों को प्रमाणित कर आचार-शास्त्र का वैज्ञानिक आधार प्रारम्भ किया। इसके बाद यूनान में चार मुख्य मत प्रचलित हुए। प्रथम है प्लेटो का मत। दूसरा है अरिस्टोटल का मत। तीसरा स्टोइक का मत है। चौथा है एपीक्यूरस का मत। पाँचवाँ मत उन संशयवादियों का था, जो कभी पहले तथा कभी दूसरे के मत का अवलम्बन कर संशयवाद का प्रचार किया करते थे।

प्लेटो ने बतलाया कि बाह्य पदार्थ असत्य है तथा शुद्ध ज्ञान चैतन्य-सत्ता रूप से परिव्याप्त हो रहा है। ईश्वर अपने विचारों का ठप्पा प्रकृति पर देता है, तो प्रकृति ईश्वर के आदेशों को मानकर ठीक उनके इच्छा के अनुसार वैसी ही बन जाती है।

अन्त में इमान्यूयल कांट नामक एक जर्मन दार्शनिक हुआ, जो आदेशवाद, (Dogmatism) तथा अनुभववाद (empricism) इन दोनों को व्यर्थ वाक् व्यायाम का ताण्डव बताया। उसने कहा कि मनुष्य को पहले अपने मन की शक्तियों की परीक्षा करके ही दार्शनिक बनना चाहिए। इसलिए कांट के मत को (criticism) परीक्षावाद कहते हैं। इसके पश्चात् विज्ञान के क्षेत्र में कोपर्निकस, गैलिलियो, आदि द्वारा विश्व-परिक्रमा करने के फलस्वरूप भू-केन्द्रक ज्योतिर्गणित आदि विभिन्न विषयों का आविर्भाव हुआ।

'बेकन' आदि तार्किक-दार्शनिकों की परीक्षा-प्रधान नई वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रचार होने लगा। प्राचीन दार्शनिक धारणाओं के प्रति लोगों की श्रद्धा कम होने लगी। धीरे-धीरे मनोविज्ञान के ऊपर लोगों की अधिक श्रद्धा बढ़ने लगी। ज्ञान और विज्ञान दोनों की उन्नति के लिए अनुभव और परीक्षण (Observation and Experiment) आवश्यक समझे जाने लगे।

इमान्युयल कांट के बाद यूरोप में तीन प्रकार के दार्शनिक हुए। प्रथम में फिक्ट, हेगल आदि प्रत्ययवादी (Idealism) दार्शनिक हुए हैं। दूसरे वस्तुवादी (Realism) रोड के अनुगामी हैं। तीसरे हैं अणुवादी (Atomism) मिल, बेन, आदि। इस बीसवीं शताब्दी में ये ही दार्शनिक विचारधाराएँ थोड़े-बहुत रूपान्तर के साथ प्रवाहित हो रहे हैं।

वर्त्तमान काल में प्रत्ययवाद का झण्डा ब्रेडले, बौसेंक्वैट शाखा के हाथ में है। वस्तुवाद का प्रचार बर्ट्रेण्ड रसल के पक्षवाले कर रहे हैं। तथा अनुभववाद को वर्त्तमान में माननेवाले दार्शनिक विलियम जेम्स के सिद्धांतों के अनुयायी हैं।

दर्शन का प्रमुख समस्या जीवन की व्याख्या करना तथा उसके मूल्यों का अर्थ सम्बोधित कराना होता है। युग परिवर्त्तन के साथ-साथ दर्शन की परिभाषा में भी परिशोधन होते रहते हैं। यूरोप में बाह्य सत्यों के अनुसन्धान में मानव की जितनी अपरिमित शक्ति, समय तथा अर्थ का व्यय हुआ है, उतनी

मानवीय प्रकृति के आन्तरिक सत्यों के उद्घाटन करने में समय नहीं लगाया गया है।

ग्रीक-दर्शन का जन्म आश्चर्य से हुआ, किन्तु आधुनिक पाश्चात्य दर्शन सन्देहवाद को लेकर आगे बढ़ रहा है। तथा स्थिति यह हो गई है कि मानव दिग्-भ्रान्त होकर अनजान की ओर अपनी जीवन-धारा बहाये लिये चला जा रहा है। दर्शन की महत्ता तथा उसके व्यापक मूल्यों की स्थापना की दिशा में अग्रसर होने की जितनी आवश्यकता आज के युग में है, उतनी इसके पूर्व कभी नहीं थी। विचारों का जितना अधिक प्रभाव जन-समुदाय के ऊपर आज है, उतना पूर्वकाल में नहीं था।

अट्ठारहवीं शताब्दी में फ्रांस में दर्शन की गति भौतिकवादी तथा धर्मविराध की ओर प्रवाहित हुआ तथा जर्मन की विचार-धारा आदर्शवाद की ओर। इन दोनों विचारों के बीच से मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने जन्म लिया, किन्तु इसमें हृदयगत सत्यों का नितान्त अभाव है।

वर्त्तमान में आदर्शवादी और भौतिकवादी दृष्टिकोण का संघर्ष उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। आवश्यकता है दोनों वादों के समन्वय की।

दर्शन केवल विचार-मार्ग ही नहीं है, वरन् वह जीवन-मार्ग भी है। आज हमें जानने के लिए नहीं जीना है, वरन् जीने के लिए जानना आवश्यक हो गया है।

विश्वव्यापी नैतिकता का प्रतीक यूनान के प्रमुख दार्शनिक 'प्लेटो'

सुकरात का मुख्य शिष्य प्लेटो था। सुकरात ने विश्वव्यापी सामान्य नैतिकता के सिद्धान्त को उद्घोषित किया, तो प्लेटो ने उसके सिद्धांत को वैज्ञानिक रूप से अभिव्यक्त कर दिखाया। प्लेटो को अच्छी शिक्षा मिली थी। सुकरात के द्वारा ही उसे दर्शन का ज्ञान हुआ था। प्लेटो बहुत बड़ा गणितज्ञ भी था। सच्चरित्रता, विद्या और शांति के कारण सब लोगों में इसका मान होता था। इसके ग्रन्थ संवाद के रूप में लिखे गये हैं। दार्शनिकों के निश्चित ज्ञान तो प्रत्यय (Concepts) ही है। इसके मत से मनुष्य रहे, चाहे जाय, मनुष्यत्व सदा रहेगा।

प्लेटो द्वैतवादी था। दृश्य पदार्थों को वह सामान्य सत्य की प्रतिलिपि मानता था। उस प्रतिलिपि को प्रतिफलित होने के लिए कोई आधार चाहिए और वह आधार प्रकृति है, जो निर्गुण तथा आकार-रहित अदृश्य पदार्थ है। प्रकृति पर विश्वात्मा अपने मन के प्रत्ययों या आकार का ठप्पा लगा देता है। सांख्य-दर्शन की प्रकृति से यह प्लेटो की प्रकृति भिन्न है। सांख्यवालों की प्रकृति में गुण और कर्म है, पर इसमें नहीं है।

प्लेटो इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान और लोकमत को तिरस्कार कर बुद्धि-जन्य-ज्ञान या सिद्धांत को यर्थाथ ज्ञान माना है। प्लेटो ने मत (Opinion) और सिद्धांत-ज्ञान (Knowledge) में से प्रत्येक के

दो-दो विभाग किये हैं। एक को निम्न श्रेणी तथा दूसरे को उच्च श्रेणी माना है। निम्न श्रेणी के ज्ञान में गणित-सम्बन्धी ज्ञान रखा तथा उच्च श्रेणी के ज्ञान में 'श्रेय' का ज्ञान है। श्रेय के ज्ञान से आत्मा परमपद की प्राप्ति करती है।

सौंदर्य के मनन से उत्पन्न हुए प्रेम द्वारा आत्मा में श्रेय-ज्ञान का उदय होता है। आत्मा का शुद्ध-स्वरूप श्रेय का ज्ञान ही है। प्रकृति के भोग से आत्मा में दो दोष आते हैं—प्रथम, तो क्रोधादि विकार हैं तथा दूसरे में क्षुधा, तृष्णा आदि शारीरिक आवश्यकताएँ। इन दोनों में बुद्धि के द्वारा होनेवाला ज्ञान ही प्रधान है। प्लेटो ने बुद्धि की तुलना सारथि से की है। क्रोधादि विकार हमारी उन्नति के मार्ग में बाधा डालते हैं। किन्तु बुद्धि को चाहिए कि उन विकारों पर विजय प्राप्त करे।

प्लेटो ने आत्मा को अमर माना है तथा साथ ही उसने आत्मा का पूर्वजन्म और पुनर्जन्म भी माना है।

आत्मा के अमरत्व के प्रमाण प्लेटो ने अपने (phoedo) फिडो नामक ग्रंथ में चार प्रकार से दिये हैं।

पहला :—संसार के सभी पदार्थों में द्वन्द्व होता रहता है। घटने के साथ बढ़ना, उन्नति के साथ ह्रास, भलाई के साथ बुराई तथा बुराई के साथ भलाई लगी हुई है। जागने के साथ निद्रा तथा निद्रा के साथ जागना लगा हुआ है। इसी प्रकार जीवन के साथ मरण तथा मरण के साथ जीवन लगा हुआ है।

दूसरा:—दूसरा प्रमाण इस आधार पर है कि शरीर भौतिक तत्त्व मिश्रित होने से दृश्य पदार्थ है तथा आत्मा अभौतिक अमिश्रित एवं अदृश्य है, अतः शरीर का ही विच्छेद या विकास होता है, आत्मा का नहीं।

तीसरा:—प्रमाण पूर्वार्जित-ज्ञान के उदय होने से है, जिसके द्वारा पूर्वजन्म सिद्ध होता है।

चौथा:—मृत्यु का विचार आत्मा के अमरत्व के विचार से विरुद्ध है। आत्मा सब पदार्थों का जीवनदाता है। सुकरात की भाँति प्लेटो ने भी ज्ञान को ही मुख्य कर्त्तव्य माना है। इसलिए प्लेटो की दृष्टि में दार्शनिक ही आदर्श पुरुष है।

सुव्यवस्थित समाज ही न्याय का आदर्श चरितार्थ कर सकता है। समाज मनुष्य अथवा व्यक्ति का बड़ा रूप है। मनुष्य की आत्मा में तीन गुण हैं, उसी प्रकार समाज में भी तीन विभाग हैं। प्रथम, राजा लोगों को दार्शनिक होना चाहिए; क्योंकि वे समाज के मस्तिष्क होते हैं। उनमें बुद्धि और चतुरता की ही प्रधानता रहनी चाहिए। जिस प्रकार बुद्धि मनुष्य की निम्न प्रकृतियों पर शासन करती है, उसी प्रकार राजा समाज पर शासन करता है।

दूसरे तत्त्व के अनुकूल समाज में लड़नेवाले सिपाही योद्धा लोग हैं। तीसरे में कारीगर तथा पेशेवर लोग हैं।

समाज को अच्छा बनाने के लिए कई बातों की आवश्यकता है। सबसे पहले समाज के शासकों की शिक्षा न्यायानुकूल होनी

चाहिए। ये शासक लोग अपने माता-पिता से पृथक् रखे जायँ। स्त्री-पुरुषों के अनुचित सम्भोग को रोककर समाज के लिए सुसन्तान की भी आवश्यकता है।

प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ में राज्य की शिक्षा के सम्बन्ध में सम्मिलित सम्पत्तिवाद (Communionism) के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। प्लेटो के मत से शासक जाति में कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए। यहाँ तक कि बच्चे और स्त्रियाँ भी सम्मिलित सम्पत्ति समझी जायँ। बच्चे अगर अपने को माता-पिता की सन्तान समझेंगे, तो वे समाज की सेवा समुचित रूप में नहीं कर सकते। इसके अनुसार स्त्रियों और पुरुषों की शिक्षा समान होनी चाहिए।

समाज के भावी शासकों में स्वाभाविक शील तथा शौर्य होन चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य यही होना चाहिए कि ये गुण उचिता मात्रा में बढ़ाये जायँ। प्लेटो के अनुसार शारीरिक व्यायाम मानसिक उन्नति का सहायक है। काव्य-कला की उसे शिक्षा देनी चाहिए। राजा को विचारशील होना चाहिए, पर इतना विचारशील नहीं होना चाहिए कि उसमें दीर्घसूत्रता आ जाय।

विज्ञान के संस्थापक अरस्तू

अरिस्टोटल या अरस्तू यूरोप के स्टेजिरा नगर के वैद्य निकोमेकस् का पुत्र था। उन्होंने बहुत दिनों तक प्लेटो के स्कूल में शिक्षा पाई थी। पीछे उन्होंने अपना स्वतन्त्र स्कूल स्थापित कर

लिया। कुछ वर्षों तक वह मेसिडन का प्रसिद्ध राजा सिकन्दर का अध्यापक था। सिकन्दर अपनी विजय-यात्रा में अरस्तू को विदेशों से विभिन्न प्रकार के जीव-जन्तुओं को भेजा करता था, जिससे उसे विज्ञान के अन्वेषणों में बड़ी सहायता मिलती थी। अरस्तू एथेन्स नगर के 'लीकियम' के बागों में अपना अध्यापन-कार्य किया करता था।

सिकन्दर के मरने पर 'एथेन्स-'वासियों ने राज-विप्लव की अवस्था में अरस्तू पर नैतिक अभियोग लगाये। इस कारण वह वहाँ से हटकर 'कार्ल्किस' नगर में गया तथा कुछ दिनों के बाद वह वहीं मर गया।

प्राचीन समय का ऐसा कोई दर्शन या विज्ञान का विषय उस समय तक बच नहीं सका था, जिस पर अरस्तू का प्रभाव न पड़ा हो। यूरोप में न्याय-शास्त्र का प्रारम्भ अरस्तू ने ही किया। वे आचार, नीति, शरीर-विज्ञान, जीव-विज्ञान आदि विभिन्न शास्त्रों को प्रचारित तथा प्रकाशित किया।

यद्यपि तर्कशास्त्र की नींव सुकरात के समय में ही डाली जा चुकी थी, किन्तु अरस्तू को ही तर्कशास्त्र के आदि कर्त्ता होने का गौरव प्राप्त है।

वे अपने तर्कशास्त्र का नाम एनैलेटिक्स (Analatics) दिया है। तर्कशास्त्र का मुख्य उद्देश्य ज्ञान-प्राप्ति की पद्धति बतलाना है। विचार तर्क द्वारा होता है। तर्क द्वारा—सामान्य ज्ञान (Universal Truth) से विशेष (Particular) की प्राप्ति होती

है। चैतन्य में नित्य के निर्धारणों से अनुमान उत्पन्न होता है। निर्धारण अनुभव से प्राप्त होता है।

तर्क से तत्त्व का विशेष ज्ञान प्राप्त करने का नाम (Deduction) निगमनात्मक-ज्ञान कहा जाता है। तथा विशेष ज्ञान से तत्त्व के सामान्य ज्ञान की प्राप्ति को (Induction) आगमनात्मक ज्ञान कहते हैं।

द्रव्य वस्तु का अपूर्ण रूप रहता है। आकार पर पहुँचने के लिए ही द्रव्य की आन्तरिक प्रवृत्ति होती रहती है। आकार वस्तु की पूर्ण सम्भावना है। जैसे-जैसे वे सम्भावनाएँ वास्तविकता में परिणत होती जाती हैं, वैसे-वैसे वस्तु अपने पूर्ण स्वरूप या अपने पूर्ण लक्ष्य को प्राप्त करती रहती है। आकार ही वस्तु में गति का कारण है। मनुष्य का शरीर द्रव्य है तथा आकार उसकी आत्मा। संसार गतिमय है। विज्ञान का मुख्य उद्देश्य गति के तत्त्वों का अन्वेषण करना है। गति ही परिवर्त्तन और विकार का कारण है। गति के चार मुख्य भेद होते हैं—१. द्रव्य के सम्बन्ध में उत्पत्ति, नाश या अभाव, २. गुण के सम्बन्ध में परिवर्त्तन, ३. परिणाम के सम्बन्ध में अधिकता तथा न्यूनता और ४. वास्तविक रूप में स्थान-परिवर्त्तन। इन गतियों में वृत्ताकार गति पूर्ण रूप है। रेखाकार गति अपूर्ण है। ग्रहों की गति वृत्ताकार होती है।

द्रव्यों के अन्दर या बाहर शून्य कहीं नहीं है। एक द्रव्य के हटने पर उसके स्थान में दूसरा द्रव्य आ जाता है। प्राकृतिक वस्तुओं में उत्तरोत्तर एक उन्नति-क्रम चलता है। निर्जीवों से उत्तम

जीव है। जीवों में भी वृक्ष आदि में केवल रस-ग्रहण और उत्पादन की शक्ति है। पशु-पक्षी आदि अन्य प्राणियों में रस-ग्रहण तथा उत्पादन-शक्ति के अतिरिक्त संवेदन-शक्ति भी वर्त्तमान है, जिससे उनको सुख-दुःखादि का अनुभव होता रहता है।

आत्मा की वास्तविक शक्ति ज्ञान है। मनुष्य में जो विवेक-शक्ति है, उसके कारण वह सर्वोत्तम है। विज्ञान आत्मा का रूप है। आत्मा के दो अंश है। एक, अनुभवाधीन ज्ञान, जिसे Nous Pothetikos कहते हैं। दूसरा अनुभव जो निरपेक्ष शुद्ध अंश ज्ञान है, उसे Nous Pointikos यह अमर है। यह शुद्ध विवेक-शक्ति प्रकृति का अंश नहीं है। यह शरीराधीन भी नहीं है। ईश्वर शुद्ध विवेक स्वरूप है, इसलिए उसके यहाँ अनौचित्य की सम्भावना ही नहीं। छोटे प्राणियों में विवेक नहीं है, इसलिए उन्हें उचित या अनुभव के द्वारा कौन विषय ग्राह्य है तथा कौन अग्राह्य, इसके विचार का सामर्थ्य नहीं है। इसलिए आचार का ध्यान मनुष्य को ही है। आचार धर्म है। अधर्म दुराचार है। जिससे कोई वस्तु पूर्णता को पहुँचे, वही धर्म है और जिससे अपूर्णता हो, वही अधर्म है।

शरीर को नष्ट करके ईश्वरमय होने की इच्छा तथा विवेक को नष्ट करके संसार में ही पच मरने की इच्छा, ये दोनों बातें मूर्खता की हैं।

सुकरात, प्लेटो और अरस्तू, ये तीनों यूनान (ग्रीस)के सबसे बड़े दार्शनिक थे। इन तीनों के मतों को आधुनिक दर्शन और विज्ञान का

मूल समझना चाहिए। आचार-शास्त्र Ethics) का प्रारम्भ सुकरात तथा उनके अनुयायियों ने किया और सत्ता-शास्त्र (Ontology) का उपक्रम प्लेटो तथा उनके अनुयायियों ने। विज्ञान (Natural philosophy) की प्रायः सभी शाखाओं को अरस्तू ने प्रवर्त्तित किया।

यूनान के संशयवादी

स्टोइक-जीनो—का जन्म सीप्रस टापू में हुआ था। इसने अपने दर्शन का प्रारंभ एथेन्स नगर में किया। इसका आचार बहुत ही उत्तम था। अन्त में इसने इच्छापूर्वक आत्मघात कर लिया। प्रत्यक्ष ही समस्त ज्ञान का मूल है। वस्तु एक है। वही कभी बाह्य संसार तथा कभी अन्तःकरण के रूप में दिखलाई पड़ती है। आत्मा पृथक् पदार्थ नहीं है। एक ही वस्तु की स्थिति-शक्ति को शरीर तथा कार्य-शक्ति को आत्मा कहते हैं। जैसे, शरीर में स्थिति-शक्ति और कार्य-शक्ति दोनों ही हैं, उसी प्रकार समस्त संसार में भी। संसार एक बड़ा जीव है, जिसका शरीर यह पृथ्वी है तथा आत्मा ईश्वर है। जगत् में ज्ञान, प्राण, बुद्धि, कृति, नियम आदि ईश्वर के ही रूप हैं। प्राण अग्नि-मय है। ईश्वर इस जगत् की सर्वव्यापी शक्ति है। उसका ज्ञान अनन्त है। संसार मे जो दोष दिखलाई पड़ते हैं, अन्त में उससे भी लाभ ही होता है। जैसे परस्पर विभिन्न स्वरों के मेल होने से अच्छी संगीत-ध्वनि निकलती है, उसी प्रकार संसारिक दोष, गुण आदि सब को मिलाकर एक उत्तम कार्य का सम्पादन होता रहता है।

एपीक्यूरस—जिस वर्ष जीनो का जन्म हुआ, उसी वर्ष गगिरीज नगर में एपीक्यूरस का जन्म हुआ। इनके मत से मूर्त्त पदार्थ, जैसा कि आत्मवादियों ने कहा है, वह असत् है, वैसा नहीं है। नित्य परमाणुओं से बना हुआ मूर्त्त संसार ही सत् है। मूर्त्त पदार्थों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ये मूर्त्त पदार्थ परमाणु से बने हैं। परमाणु में स्वभाविक गति है। इसका मत था कि आत्मा भी मूर्त्त पदार्थ है, शरीर के साथ ही इसकी उत्पत्ति होती है तथा इसी के साथ उसका नाश भी होता है। मनुष्य को मरने का भय या स्वर्ग की इच्छा करना अथवा नरक का त्रास आदि मानना व्यर्थ है। इसलिए ज्ञानवान् पुरुष को मृत्यु का भय दूर कर निश्चिन्त शान्त तथा सुखमय जीवन बिताना चाहिए। स्टोइक तथा एपीक्यूरस दोनों ही दार्शनिक व्यक्ति के लिए शान्ति और सुख चाहते थे। यह अपूर्ण संसार कभी पूर्ण आनन्दमय ईश्वर का बनाया हुआ हो नहीं सकता; क्योंकि पूर्ण आनन्दमय ईश्वर को अपूर्ण वस्तु बनाने का क्या प्रयोजन है। इसलिए एपीक्यूरस ईश्वर आदि अप्राकृतिक किसी वस्तु को नहीं मानता।

पीरो—इसने थेलिज से अरस्तू तक के सभी दार्शनिकों के मतों में परस्पर अत्यन्त विरोध देखकर वास्तविक सत्ता तक पहुँचना असम्भव समझा। वह कहता है कि यह संसार यदि ईश्वर की सृष्टि है, तो इसमें इतने दोष और उपद्रव क्यों हैं? दूसरी बात यह है कि वह यदि ईश्वर सत्-स्वरूप और ज्ञानवान् पुरुष है, तो उसे सगुण और सशरीर मानना पड़ेगा, इससे ईश्वर अनित्य हो जाता है। इनके सिद्धान्त का मुख्य विषय संशयवाद का प्रचार करना था।

अट्ठारहवीं शताब्दि के विज्ञानवादी दार्शनिक

जार्ज बर्कले (१६८५ ई०—१७५३ ई०)—का जन्म आयरलैण्ड में हुआ था। वह बहुत दिनों तक क्लोयिन नगर का प्रधान पादरी था। इसके लिखे हुए प्रमुख ग्रन्थ का नाम 'मनुष्य के ज्ञान का तत्त्व' (Treatise on the principles of human knowledge) है। बर्कले ने अपने दर्शन में ईश्वरवाद की वैज्ञानिक पुष्टि की है।

इसके दर्शन का एक भाग खण्डनात्मक तथा दूसरा भाग मण्डनात्मक है। इसने लॉक के भौतिकवाद का खण्डन किया। भौतिक द्रव्य के विषय में बर्कले का कहना है कि किसी द्रव्य को हम जान सकते हैं, तो केवल उसके गुणों के द्वारा ही। हम गुणों से बाहर जा नहीं सकते। अगर किसी द्रव्य में गुण नहीं, तो वह ज्ञान में आ नहीं सकता। रंग विना विस्तार के नहीं दिखलाई पड़ सकता है।

यदि बर्कले से यह पूछा जाय कि जब भौतिक द्रव्य है ही नहीं, तो उसका विचार या प्रत्यय मन में आता कहाँ से है। बर्कले इसके उत्तर में कहता है कि यह एक मानसिक भूल है, जो प्रत्याहार के द्वारा ऐसी कल्पना कर ली जाती है। ऐसे मनुष्य की कोई कल्पना कर नहीं सकता, जिसमें न कोई खास लम्बाई हो या न खास चौड़ाई, न खास कोई रंग हो, न कोई रूप हो। हम गुण से हीन भौतिक द्रव्य की कल्पना कर

नहीं सकते। जब कोई वैज्ञानिक किसी प्रकार का वैज्ञानिक सिद्धान्त निकालता है, तब वह द्रव्य के गुणों के सम्बन्ध में ही निकालता है। उदाहरण के लिए, जब किसी पदार्थ को गर्म किया जाय, तब वह बढ़कर अधिक विस्तृत हो जाता है। अतः, भौतिक द्रव्यों के गुणों के सम्बन्ध में ही खोज होती है।

बर्कले का यह प्रमुख सिद्धान्त है कि मन और विचार से स्वतन्त्र कोई पदार्थ है नहीं।

कोई पदार्थ दूर से छोटा तथा नजदीक से बड़ा मालूम पड़ता है, इसका वास्तविक विस्तार क्या है? इसका उत्तर बर्कले ने दिया है कि वह नेत्र पर होनेवाला संवेदन है। अतः, दूरी और आकाश मन की ही कल्पना की हुई है। इनके अनुसार भारीपन भी कोई चीज नहीं है, उसकी कल्पना भी मन के द्वारा ही कर ली गई है। अगर किसी बोझ को पृथ्वी के केन्द्र पर तौला जाय, तो उसका बोझ शून्य होगा। ये सारी चीजें शारीरिक तथा ऐन्द्रिक संवेदन के फल हैं।

बर्कले के अनुसार संवेदन का कोई कारण नहीं है। अगर कारण माना भी जाय, तो वह भी कोई दूसरा संवेदन या प्रत्यय ही होगा।

इसलिए प्रत्ययों की ही वास्तविक सत्ता है। बर्कले का सिद्धान्त प्रत्ययवाद (Idialism) के नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु, उसके साथ वस्तुवाद (Realism) भी लगा हुआ है। हमारा ज्ञान मिथ्या नहीं है। सब पदार्थ वास्तविक है। वे जैसे

दिखाई देते हैं। ठीक वैसे ही हैं। बर्कले शरीर के प्रत्यय को भी मन के भीतर ही मानता है।

बर्कले ने भौतिक द्रव्य के स्थान में चेतन ईश्वर को रख दिया है। ईश्वर के अस्तित्व का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि सब पदार्थों की गति का मूल कारण चेतन संकल्प में ही है। बहुत-सी ऐसी गति है, जिसका मनुष्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, पर उसमें गति हो रही है। अतः, इसका कारण ईश्वर ही है।

बर्कले भौतिक द्रव्यों का खण्डन कर आत्मिक द्रव्यों का मण्डन किया है। इसके मत से आत्मा का कोई प्रत्यय नहीं होता, पर उसका हमें अन्तर्बोध होता है।

दूसरे लोगों की भी सत्ता बर्कले अनुमान पर ही मानता है। यद्यपि दूसरे लोगों की सत्ता उसके लिए वैसे ही निश्चयात्मक एवं स्वयं सिद्ध है, जैसे मेरी सत्ता मेरे लिए। पर दूसरे की सत्ता मेरे लिए अनुमान ही है। बर्कले के इस सिद्धान्त पर कुछ लोगों ने आपत्ति की है।

बर्कले अनुभववाद के आधार पर चलकर बाह्य पदार्थ के द्रव्यों को नहीं मानता है। प्रत्यक्ष या अनुभव, चिन्तन तथा स्मृति इनके अलावा कोई ज्ञान है नहीं। अनुभवगोचर विषय अधिक प्रबल होते हैं। वे ही स्मरणगोचर होने से दुर्बल हो जाते हैं। अनुभव के द्वारा पृथक् किये हुये विषयों का जोड़ना तथा एकत्र मिले हुए विषयों को पृथक् करना बुद्धि का काम है। यह असम्भव है कि बुद्धि हमें अनुभव के अलावा कोई

बात बतावे। ईश्वर का भी प्रत्यय मनुष्य के हृदय में प्रत्यक्ष के द्वारा ही होता है। प्रकृति के भिन्न-भिन्न परिच्छिन्न पदार्थों को एक अपरिच्छिन्न सत्ता के साथ सम्बन्ध जोड़ने पर ईश्वर का ज्ञान हो जाता है। बर्कले कार्य-कारण के सिद्धान्त को नहीं मानता।

ह्यूम—बर्कले की भाँति 'ह्यूम' ने भी भौतिक द्रव्यों को नहीं माना है। किन्तु, बर्कले से ह्यूम एक कदम और आगे जाता है। जिस युक्ति से बर्कले ने भौतिक द्रव्यों का खण्डन किया है, उसी युक्ति से ह्यूम ने आत्मिक द्रव्यों का खण्डन किया है। ह्यूम का कहना है कि जिसको 'मैं' कहते हैं, वह भी एक प्रत्यय ही है। जो कुछ है, वह प्रत्यय ही प्रत्यय है। ह्यूम के मत से न ईश्वर रहा और न भौतिक द्रव्य। केवल प्रत्यय और संवेदन ही रह गये।

उन्नीसवीं शताब्दि के वैज्ञानिक परीक्षणवादी जर्मन दार्शनिक

इमान्यूएल काण्ट—(१७२४ ई०—१८०४ ई०) काण्ट का जन्म जर्मनी के 'कोनिंग्सवर्ग' नामक स्थान में हुआ था। इसका पितामह स्कॉटलैंड से जर्मनी गया तथा वहीं जीनपोस बनाने का काम करता था। काण्ट का जीवन सरल था। इसने विवाह नहीं किया। अध्ययन तथा पुस्तकों को लिखकर ही वह अपना जीवन-निर्वाह करता था। वह अस्सी वर्ष की उम्र में मरा।

काण्ट ने ज्ञान-प्राप्ति के साधन बुद्धि तथा उसके विधान की परीक्षा की। दूरवीक्षण-यंत्र के द्वारा तारागण की परीक्षा करने के पहले काण्ट ने उस दूरवीक्षण-यन्त्र की ही परीक्षा कर लेना अत्यावश्यक समझा था। इसने वैसा इसलिए समझा कि दूरवीक्षण-यन्त्र से कुछ-की-कुछ वस्तु न दिखलाई देकर वस्तु का वास्तविक रूप ही दिखलाई दे। पहले-पहल बाल्यावस्था में मनुष्य को जब थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होने लगता है, तब वह संसार, ईश्वर आदि के विषयों में अनेक प्रमाण-रहित कल्पनाएँ करने लगता है। इस अवस्था को अन्ध-विश्वास की अवस्था (Dogmatic Period) कहते हैं। फिर कुछ अधिक ज्ञान होने पर, अर्थात् किशोरावस्था में इन कल्पनाओं में विरोध दीखने लगता है, उस अवस्था में मनुष्य संशय में पड़ता है, जिसे संशयावस्था (Secptic period) कहते हैं।

अन्त में ज्ञान की विशेष अवस्था में जगत् और ईश्वरादि विषयों की आलोचना करने के पहले, मनुष्य को अपने ज्ञान की परीक्षा कर लेना अत्यावश्यक होता है। इस अवस्था को परीक्षा का समय (Critical period) कहते हैं। इसलिए काण्ट का सिद्धान्त परीक्षावाद के नाम से विख्यात है। काण्ट ने मानव की मस्तिष्क-शक्तियों से सम्बन्धित तीन पुस्तकों को लिखा। प्रथम, बुद्धि के सम्बन्ध से 'शुद्ध बुद्धि का परीक्षण' (Critique of pure Reason) के नाम से। द्वितीय पुस्तक, संकल्प के सम्बन्ध से 'व्यावहारिक बुद्धि का परीक्षण' (Critique of practical Reason) तथा तीसरी पुस्तक भावना, के सम्बन्ध से 'निर्णय का परीक्षण' (Critique of Judgment) के नाम से प्रकाशित की।

'शुद्ध बुद्धि का परीक्षण' नामक पुस्तक के दो भाग हैं। एक का नाम है अनुभवातीत संवेदन-शास्त्र (Transcendental Logic)तथा दूसरे का नाम अनुभवातीत तर्क-शास्त्र (Transeendental Aesthatics) है। अनुभवातीत संवेदन-शास्त्र का संबंध संवेदन (Sensation) से है। दूसरा अनुभवातीत तर्क-शास्त्र का सम्बन्ध प्रत्यय (Idea) या विश्वास से है। संवेदन विना प्रत्यय के भाव से हीन है तथा प्रत्यय विना संवेदन के खोखला तथा निस्सार होता है। संवेदन हमको देश (Space) और काल (Time) दो मानसिक चक्षुओं द्वारा प्राप्त होते हैं। ऐसा कोई संवेदन या प्रत्यय नहीं होगा, जो देश या काल के घेरे

से बाहर का हो। सब के साथ कब और कहाँ लगा रहता है। अनुभववादी यूरापियन दार्शनिकों का यह सिद्धान्त था कि बाहर के प्रभाव से ही शरीर के भीतर की व्यवस्था होती है। पर काण्ट ने इस सिद्धान्त को असिद्ध करके यह दिखलाया कि अन्दर से ही बाहर की व्यवस्था होती है।

यूरोपियन दार्शनिक जगत् में इमान्यूएल काण्ट के दर्शन ने यहीं पर सबसे भारी परिवर्त्तन किया है। इसीलिए काण्ट को दर्शन-शास्त्र का 'कोपर्निकस' कहा जाता है। जिस प्रकार कोपर्निकस ने पृथ्वी के स्थान में सूर्य को संसार का केन्द्र माना था, उसी प्रकार काण्ट ने भी समस्त ज्ञान का केन्द्र बाहर से अन्दर आत्मा में सिद्ध किया।

सृष्टि, ईश्वर तथा आत्मा का विचार बुद्धि के विचार कहे जाते हैं। बुद्धि हमारे विचारों की नियामिका है। विचारों में अत्यधिक सहायता मिलती है।

हम अपने ज्ञान से बाहर जा नहीं सकते। दृश्य से बाहर जाकर अदृश्य के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। काण्ट अपनी 'शुद्ध बुद्धि का परीक्षण' नामक पुस्तक में आत्मा और सृष्टि का खण्डन कर विस्तार के साथ ईश्वर के प्रमाणों का भी खण्डन किया है। वह कहता है कि जब वैज्ञानिक प्रमाणों से द्रव्य ही स्वयं अविनश्वर (Industractable) है, तो फिर उसकी सृष्टि ईश्वर कैसे करता है? काण्ट के अनुसार संविद्वाद, परमाणुवाद, ईश्वरवाद आदि सभी पूर्व की दार्शनिक कल्पनाएँ

बुद्धि-ज्ञान से असिद्ध हैं। अपनी द्वितीय पुस्तक (Critique of practical reason) 'व्यवहारिक बुद्धि का परीक्षण' नामक पुस्तक में काण्ट ने यह दिखलाया है कि आचार का क्षेत्र अनुभव से स्वतन्त्र है। आचार का सम्बन्ध औचित्य से है। इसका फल हमें अनुभव से नहीं मिलता, वरन् अनुभव में जो कुछ है, वही मिलेगा।

काण्ट के मत से कर्त्तव्य कर्म वही है, जिस सब लोग करें, तो किसी प्रकार की बाधा न पड़े। जैसे, सब लोग सच बोल सकते हैं, किन्तु झूठ नहीं बोल सकते। ऐसा होने से अव्यवस्था-दोष आ जायगा। कर्त्तव्य कर्म किसी लाभ के लिए नहीं करना चाहिए वरन्, कर्त्तव्य-बुद्धि से ही करना चाहिए। मनुष्य अपने कर्म के द्वारा ही श्रेय या प्रेय प्राप्त कर सकता है। श्रेय एक ओर जाना चाहता है तथा प्रेय दूसरी ओर, किन्तु जो श्रेय की ओर जाना चाहते हैं वे उस ओर जा सकते हैं। कर्त्तव्य के साथ शक्यता लगी हुई रहती है। यदि कर्त्तव्य कर्म मनुष्य की शक्ति से बाहर होता, तो इसके लिए मनुष्य उत्तरदायी हो नहीं सकता था। कर्त्तव्य कर्म तो हम अपनी रुचि और प्रकृतियों के सर्वथा प्रतिकूल जाकर भी कर सकते तथा कर भी लेते हैं। और, यही हमारी स्वतन्त्रता का प्रमाण है। यही स्वतन्त्रता हमको बताती है, दृश्य जगत् की कार्य-कारण-शृङ्खला से आत्मा अलिप्त है। जो वस्तु कार्य-कारण की शृङ्खला में बँधी हुई है, वह स्वतन्त्र हो नहीं सकती। मनुष्य

के अच्छे कामों का फल कभी नष्ट नहीं होता। मृत्यु के पश्चात् भी उसे अपने अच्छे कर्मों का फल मिलता है। काण्ट के अनुसार कठिनाई से शून्य संसार में कर्त्तव्य करने का कुछ भी महत्त्व नहीं है। महत्त्व तो तभी है, जब कठिनाई से परिपूर्ण संसार में अपने कर्त्तव्यों को करते जायँ।

जैसे अत्यधिक वायु में पक्षी को उड़ने में रुकावट होती है, पर वायु-मण्डल से बाहर पक्षी उड़ भी नहीं सकता है। पूर्ण स्वतन्त्रता एवं अपने कर्त्तव्यों के फल पाने के लिए अमरत्व का होना अनिवार्य है। साथ-साथ इस संसार में बुराई को भलाई के ऊपर अपना प्रभाव जमाने से रोकने की भी आवश्यकता है। इस प्रकार, काण्ट जिन बातों को 'शुद्ध-बुद्धि-परीक्षण' में असिद्ध कर अज्ञेय कह दिया था, उसे 'व्यावहारिक बुद्धि का परीक्षण' नामक पुस्तक में ज्ञेय सिद्ध कर दिया है। इस पुस्तक में उसने आत्मा के अस्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता स्थापित कर अमरत्व और ईश्वर को भी सिद्ध कर दिया है। एक ही व्यक्ति द्वारा लिखित दो पुस्तकों में ऐसा विरोध नहीं होना चाहिए था। किन्तु, इसका समाधान काण्ट ने स्वयं अपने दर्शन में कर दिया है। उसने कहा—केवल बुद्धि-ज्ञान से पुरुषत्व का अनुभव नहीं हो सकता, पुरुषत्व का अनुभव तो हमलोगों को क्रियाओं द्वारा ही होता है। अपनी तीसरी पुस्तक जिसका नाम (Critique of Judgment) 'निर्णय शक्ति का परीक्षण' है, जिसमें उसने शुद्ध-

बुद्धि तथा कृत्य-बुद्धि दोनों का समन्वय किया है। बुद्धि-शक्ति से तत्त्वनिश्चयात्मक सत्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। बुद्धि द्वारा निर्णीत सत्य में प्रकृति के नियमों का बन्धन रहता है। किन्तु कृत्य-बुद्धि औचित्य का निर्णय करती है। औचित्य का सम्बन्ध स्वतंत्रता से रहता है। यदि मनुष्य स्वतन्त्र है ही नहीं, तो उसके लिए उचित और अनुचित का प्रश्न ही नहीं उठता। इन दोनों के बीच निर्णय-बुद्धि पुल का काम करती है। निर्णय-बुद्धि, अपनी सौन्दर्य ग्राहक-शक्ति द्वारा, जो है, उससे ही ऐसा होना चाहिए, इस बात को व्यावहारिक रूप देती है, अर्थात् सौन्दर्य की उत्पत्ति इसी निर्णय-बुद्धि से होती है। सौन्दर्य में वस्तु और आदर्श दोनों का समन्वय होता है। सौन्दर्य वस्तु में नहीं है, वरन् वह बुद्धि की ग्राहक-शक्ति का फल होता है, जैसे कवि के लिए फूल स्वयं ही अच्छा है, किन्तु वैज्ञानिक के लिए वही फूल किसी कारण से अच्छा है। काण्ट का सिद्धान्त कपिल के सांख्य से मिलता है। काण्ट की अनुभवातीत अनात्म वास्तविक सत्ता की कपिल की प्रकृति से तथा अनुभवातीत आत्मसत्ता की पुरुष से तुलना कर सकते हैं। काण्ट ने भीतर और बाहर के संयोग से ही अनुभव को बनते हुए माना, वैसे ही कपिल ने भी माना है। काण्ट ने अपने तर्क से ईश्वर को असिद्ध माना है, कपिल ने भी अपने तर्क से ईश्वर को असिद्ध कहा है।

———

उन्नीसवीं शताब्दि के वैज्ञानिक अद्वैतवादी दार्शनिक हेगेल

(सन् १७७० से १८३१ ई०)

जार्ज विलहेम फ्रेड्रिक हेगेल का जन्म जर्मनी के स्टटगार्ट में हुआ था। इसके सिद्धांतानुसार चित् (Spirit) और अचित् (Matter) ब्रह्म से अलग नहीं, वरन् दोनों ब्रह्म ही हैं। सारा विकास-क्रम ही ब्रह्म हैं। जीवन और क्रिया का उदय ब्रह्म से नहीं होता, वरन् ब्रह्म ही जीवन और क्रिया है। ब्रह्म मनुष्य की बुद्धि के परे नहीं है। ब्रह्म और ज्ञान पर्यायवाची शब्द हैं। हेगेल के मत के अनुसार बुद्धि, विषयी के सम्बन्ध में, शक्ति है तथा विषय के सम्बन्ध में वास्तविक सत्ता है।

ब्रह्म संसार में है तथा संसार को अतीत कर भी परिव्याप्त है। संसार में बिना ब्रह्म के कुछ भी नहीं चल सकता। ब्रह्म के ही द्वारा संसार की सत्ता है और संसार द्वारा ब्रह्म अपने विकास को प्राप्त करता रहता है। ब्रह्म का विकास विवेक में होता है। आत्मा पहले अपने से अतिरिक्त सत्ता को देखती है, फिर सभी जगह अपने को ही देखकर लौट आती है। मनुष्य की तार्किक शक्ति में ब्रह्म का पूर्ण विकास होता है।

सब से पहले चित्त में सत्-तर्क का ज्ञान होता है। 'कोई है', सब से पहले यही विचार उत्पन्न होता है। जो जिस रूप में है उसे उसी रूप में मानना 'सत्य' है। सत्य में यही

द्वैत छिपा हुआ रहता है। हेगेल का कहना है, शुद्ध अपरिच्छिन्न सत्ता में उसके भाव के साथ ही साथ अभाव भी लगा हुआ है। यही विरोधी भाव ब्रह्म के विकास का मूल सिद्धान्त है। कार्लमार्क्स ने हेगेल के इसी सिद्धांत पर अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। वर्ग-संघर्ष को भी इसी सिद्धांत पर आधारित किया है।

हेगेल के अनुसार सत्ता उभयात्मक है। सत् तथा असत् दोनों ही ब्रह्म में हैं। सत् (Being) और असत् (Nonbeing) दोनों विरोधियों का मेल यथावत् वस्तु (Becoming) में होता है।

संसार में जितने पदार्थ हैं वे इसी सदसत् के संयुक्त रूप हैं। पदार्थ स्थिर नहीं है। सबकी गति उन्नति की ओर है। भावी असत् सत् होता रहता है।

ब्रह्म के मानसिक विकास की तीन अवस्थाएँ हैं। प्रथम, कला के लिए प्रतिभा (Intuition), द्वितीय धर्म के सम्बन्ध में कल्पना (Imagination) है तथा तृतीय दर्शन के सम्बन्ध में तार्किक विचार-रूप में ब्रह्म प्रकट होता रहता है।

सत् अव्यक्त है। द्रव्य उसी का विकसित रूप है, जो मानव द्वारा शीघ्र ही ग्रहण किया जा सकता है। द्रव्य और दृश्य, शक्ति और प्रकाश, मूल और गुण, कारण और कार्य ये सब-के-सब द्रव्य के स्वरूप हैं। द्रव्य और गुण दोनों सहचारी हैं। द्रव्य और गुण एक ही हैं। गुणों को निकाल

दीजिए, तो द्रव्य कुछ नहीं बचेगा। द्रव्य और गुण का मेल ही 'प्रकृति' कहलाती है। कोई पदार्थ निष्क्रिय नहीं है। सत्ता और क्रिया दोनों का एक ही आकार है। जो सत् है, वह सक्रिय है, तथा जो सक्रिय है, वही सत् है।

अपने दृश्य रूपों के अतिरिक्त कोई मूल द्रव्य नहीं है। इसलिए संसार के अतिरिक्त ईश्वर, मानस शक्ति के अतिरिक्त आत्मा, गुणों के अतिरिक्त द्रव्य नहीं मानना चाहिए। कार्य और कारण दोनों एक हैं। वर्षा से पानी आता है। वही पानी बर्फ बनता है तथा फिर पानी बनकर मेघ बन जाता है। इसलिए ब्रह्म कार्य-रूप है या कारण-रूप, यह खोज व्यर्थ है। ब्रह्म तो उभय-रूप है।

अन्तस् का स्वभाव है बाह्य आकार धारण करना, इसलिए जैसा विचार मनुष्य में आता है, वैसा ही बाहरी वस्तुओं में परिवर्त्तन हुआ करता है। सम्पूर्ण संसार अन्तस् का अवतार है।

———

इच्छा-शक्ति (Will power) की प्रबलता से ही विश्व-विकास

जर्मन दार्शनिक आर्थर शौपनहोर—आर्थर शौपेनहोर जर्मनी के रहनेवाले थे। ये काण्ट तथा भारतीय दर्शन का अनुयायी अपने को समझते थे। इनकी लेखन-शैली बड़ी ही उत्तम थी। इनका मुख्य ग्रन्थ संसार, संकल्प तथा संवित्-स्वरूप (Die weltals wille and Vorstellung) है। इन्होंने हेगेल की निन्दा की है तथा काण्ट की प्रशंसा। शौपेनहोर ने संसार को दुःखमय मानकर कृत्य-शक्ति को ही प्रधान माना है। बर्कले, हेगेल आदि प्रत्ययवादी दार्शनिकों ने आत्मा का स्वभाव ज्ञान माना है। पर, यह बात इनके अनुसार, अनुभव के विरुद्ध है। हमलोगों के शरीर में ही कितने प्रकार के रक्त संचलित होते रहते हैं, जो हमलोगों को ज्ञात नहीं होता है। जड़ और चेतन में भेद तो प्रत्यक्ष है ही। जड़ में ज्ञान का अभाव है। सब वस्तुओं में संकल्प-शक्ति (will) देखने में आती है। इच्छा, प्रयत्न, अभिलाषा, आकांक्षा सब-के-सब इसी के रूपान्तर हैं। जड़ वस्तुओं में भी एक परमाणु का दूसरे परमाणु की ओर स्वभाविक आकर्षण है। जगत् की गति का प्रमुख कारण है द्रव्य की संचलन-शीलता। इच्छाशक्ति की प्रबलता से ही एक तत्त्व दूसरे तत्त्व से मिलता है। यह इच्छा कभी ज्ञानपूर्वक तथा कभी

अज्ञानपूर्वक भी होता है। अत्यधिक प्रकाश पड़ने पर आँखें स्वयं बन्द हो जाती हैं। प्रकाश के अभाव में आँखें देख भी नहीं सकतीं। वही इच्छा ज्ञानपूर्वक होने से शक्ति बढ़ जाती है। कितने हबसी अपने-आप श्वास को रोककर आत्मघात कर लेते हैं। प्राचीन समय में स्त्रियाँ पति के मरने पर सती हो जाती थीं। इच्छा ज्ञानपूर्वक होने पर स्वतंत्रता कही जाती है। पर यह 'इच्छा' ज्ञानपूर्वक हो या अज्ञानपूर्वक सब रूपों में इच्छा ही है। शरीर और बुद्धि थक जाती है, पर इच्छा मात्र निद्रावस्था में स्वप्न के रूप भी जगती रहती है। यह इच्छा अविश्रांत और शाश्वत है।

शरीर के पहले भी यह इच्छा प्रस्तुत थी, जिससे प्रेरित हो कर शरीर का निर्माण हुआ है। आत्मा की जैसी इच्छा होती आई है, वैसा ही शरीर में परिवर्तन होते हुए आये हैं। शरीर की सृष्टि इच्छानुसार है। यह बात विभिन्न जन्तुओं की शरीर-रचना देखने पर स्पष्ट हो जाती है। सींग होने से ही बैल या बकरा टक्कर मारता हो ऐसा नहीं है, बल्कि सींग के पहले ही ये जन्तु टक्कर मारते थे, इसीलिये उन्हें सींग हो गया। गर्भ में जिस अंग से देखने की इच्छा होती है, वह अंग आँख के रूप में परिणत हो जाता है। जिससे श्वाँस लेने की इच्छा होती है, वह अंग फेफड़ा बन जाता है। ऐसे ही और इन्द्रियाँ उत्पन्न हो हो जाती हैं। जो पक्षी शिकार करते हैं, उन्हें बड़े चंगुल होते हैं। जो जन्तु भागते हैं, उनके पैर तेज और पतले होते हैं।

जो छिपकर रहना चाहते हैं, उनका रंग वैसा ही बन जाता है। इस प्रकार सर्वांग में इच्छाशक्ति (will to be) ही देखी जाती है। जहाँ किसी प्रकार से काम नहीं चलता, वहाँ बुद्धि द्वारा इच्छा अपनी रक्षा करती है। मनुष्यों में इच्छा का अस्त्र बुद्धि है। बुद्धि से यहाँ तक होता है कि इच्छा का वास्तविक रूप ही छिप जाता है तथा दूसरे को पता नहीं चलता कि किस इच्छा से प्रेरित हो कर इस मनुष्य ने यह काम किया है।

इसलिए इच्छा का ब्रह्मास्त्र बुद्धि है। इच्छा केवल प्राणियों में ही नहीं देखी जाती, वरन् जड़ पदार्थों में भी देखी जाती है। बीज चाहे जिस प्रकार भी बोया जाय, उसकी जड़ तरावट चाहती है, इसलिए जड़ के तन्तु नीचे को जाते हैं। अगला भाग प्रकाश चाहते हैं, इसलिये वे ऊपर को आते हैं। कितने पौधे पत्थर और ईंट को फोड़कर बाहर निकलते हैं। दूर से लता डण्ठल फेंक कर अपना आश्रय खोज लेती है। इसलिए संकल्प-शक्ति सर्व-व्यापिनी है। यह कोई पुरुष या व्यक्ति नहीं है। यह अचेतन शक्ति है, जिससे देश और काल आदि सब चीजें बनी है। यह स्वयं दिशा और काल के घेरे से बाहर है। जीवन-संकल्प ही जीवन का मूल है। जिस प्रकार ज्ञान नित्य है, उसी प्रकार कामना-शक्ति या इच्छा-शक्ति नित्य है। कितने लोग आत्म-घात कर लेते हैं तथा समझ लेते हैं कि मरने से छुटकारा मिल जायेगा, पर यह भ्रम है। क्योंकि जबतक इच्छा है, तबतक संसार से छुटकारा कहाँ? उसकी कामना उसके लिए दूसरा

शरीर रचकर खड़ा कर देगी। यह कष्टमय संसार इसी काम या रज-शक्ति की देन है। यहाँ बली जन्तु निर्बल को दुःख देता है। श्रम, नियम, धर्म जो मनुष्य के गुण कहे जाते हैं, वे सब अहंकारमूलक है। करुणा, वात्सल्य या अहिंसा बुद्धिमानों का धर्म है।

जीव की जितनी उन्नति होती है, उतना ही उसका दुःख बढ़ता है। पशुओं को न अधिक दुःख है और न बहुत सुख। हँसना और रोना मनुष्य के ही गुण हैं। सुख इस संसार में आकाश-पुष्प के समान है। दुःख के कुछ अभाव को ही सुख कहते हैं। इसलिए मनुष्यों को यह सोचना चाहिए कि दुःख किस प्रकार कम किया जा सकता है। सुख अधिक हो, यह नहीं सोचना चाहिए। दुःख का मूल जीवन की कामना है। इससे बचने के कई उपाय हैं। काव्य-शास्त्रों में रुचि रखकर मनुष्य अपने स्वार्थ-मूलक भावनाओं को भूल सकता है, पर यह भी स्थायी है नहीं। दूसरा उपाय संसार के दुःखों के ऊपर विचार करके दूसरों को भी दुःखी समझना तथा उन पर दया-भाव प्रकट कर अपने स्वार्थों को भूल जाने में है। इससे भी उत्तम ज्ञान के द्वारा संन्यास लेने पर जीवन की समस्त कामनाओं का पूर्ण नाश हो जाता है। बुद्ध और ईसा इसके आदर्श थे।

———

चार्ल्स डार्विन का भौतिकवादी शारीरिक विकासवाद (Biological Evolution)

चार्ल्स डार्विन का जन्म श्रुसबेरी में हुआ था। डार्विन का विशेष झुकाव विज्ञान की तरफ जीवशास्त्र से हुआ था। इसने इक्कीस वर्ष की अवस्था में ही पृथ्वी के चारों ओर यात्रा की। कुछ समय बाद 'मेलथस' की लिखी हुई पुस्तक उसके हाथ में पड़ी। उसमें लिखा है कि जीवधारियों की संख्या १, २, ४, ८, १६, के हिसाब से बढ़ती है तथा खाद्य पदार्थ की संख्या १, २, ३, ४, ५, के हिसाब से। लड़ाइयाँ, बीमारियाँ और संघर्ष आदि न हों, तो जीवधारियों की दिन-दूनी-रात चौगुनी वृद्धि होती है। इसे पढ़कर डार्विन ने यह सिद्धान्त निकाला कि जन्तु किसी कारणविशेष से जब अपने निवास-स्थान में रहने लायक होंगे, तभी वे वहाँ रहेंगे तथा उन्हीं की सन्तानें बढ़ेंगी, औरों की जाति नष्ट हो जायगी। इसी योग्यतम की रक्षा (Survival of the fittest) वाले सिद्धान्त का नींव पर डार्विन ने दो प्रमुख ग्रंथ लिखे हैं, जिनका नाम (Origin of Species) 'जाति-भिन्नता का मूल' तथा (Descent of man) 'मनुष्य की उत्पत्ति' हैं। प्रतिद्वन्द्विता प्रकृति का नियम है। यह नियम नित्य तथा सभी जगह है। यह प्रतिद्वन्द्विता प्राणियों की अधिक संख्या बढ़ने से होती है। यही जीवन-संग्राम का मूल है। बलवान् निर्बलों का नष्ट कर अपने को स्थित रखते

हैं। इसलिए जिन प्राणियों में जीवन-रक्षा करने के लिए परिस्थिति के अनुकूल अपने को बनाने की शक्ति रहती है, उसी की संतानें बढ़ सकती हैं तथा वही अपनी रक्षा कर सकता है।

इस प्रकार, जीवन-संग्राम (Struggle for existence) के द्वारा गुणों में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार भेद होते गये, जिससे प्राणियों की भिन्न-भिन्न जातियाँ प्रकट होती गईं। प्रकृति योग्य व्यक्तियों को चुनकर उसकी रक्षा करती रहती है तथा अयोग्य और असमर्थ की उपेक्षा कर देती है। वैज्ञानिक परीक्षा के लिए तीन बातों की आवश्यकता अनिवार्य है।

प्रथम है निरीक्षण (Observation), दूसरी है अनुमान (Imagination), तीसरी परीक्षा (Experiment) है। डार्विन ने इन तीनों से अपने सिद्धान्त निश्चित करने में सहायता ली है। इसने घोड़े, भेड़ आदि जन्तुओं पर परीक्षा कर अपना सिद्धान्त निश्चित किया है। पृथ्वी पर जितनी जातियाँ हैं, सब में पारस्परिक सम्बन्ध है। जन्तुओं की एक ही कोई जाति पृथ्वी पर थी, जिनके सूक्ष्म अण्डे या बीज जलवायु आदि के प्रवाह से समस्त भू-मण्डल में व्याप्त हो गये हैं।

डार्विन इस बात को मानता था कि मेरे शारीरिक विकास-वाद के सिद्धान्त के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। पर वह कहता था कि भविष्य में जब उसके सिद्धान्तों की वैज्ञानिक परीक्षा हो जाय, तथा उसमें कोई विभिन्नता न हो, तब वह सिद्धान्त बन सकता है। समय बीतने पर भी अगर इसमें कुछ

वैज्ञानिक विरोध नहीं आवें, तब कहीं विकास-कल्पनाको सिद्धान्त के रूप में समझना चाहिए।

विकासवाद के अनुसार छोटे-छोटे जन्तु बढ़ते-बढ़ते विकास क्रम से बड़े-बड़े जन्तु बन गये। छोटे जीव ही कालक्रम से बड़े जीव बन जाते हैं। जैसे, मछलियों से कछुआ, फिर कछुआ से बन्दर, फिर बन्दर से आदमी। डार्विन के सिद्धान्तानुसार मछलियों की हड्डी से जैसे बन्दर की हड्डी में समानता है, उसी प्रकार बन्दर की हड्डी से मनुष्यों की हड्डी में समानता है। बन्दरों की हड्डी से मनुष्य की हड्डियों की समानता बहुत अधिक है। इसलिए बन्दरों और मनुष्यों के पूर्वज, डार्विन के अनुसार, एक ही थे।

पशुओं में भी स्मृति, सौन्दर्य, ज्ञान, सहानुभूति आदि गुण मनुष्यों के समान ही पाये जाते हैं। पशुओं में विवेक भी रहता है। नहीं तो घोड़े आदि पशु शिक्षा को नहीं मान सकते थे। अतः कीड़ा से मनुष्य तक का विकास-क्रम समान रूप से आया है। यदि छोटे कीटाणुओं में तथा मनुष्य में भेद देखा जायगा, तो बहुत बड़ा भेद मालूम पड़ेगा। पर विकास-क्रम से जब देखा जाय, तो भेद नहीं है, बल्कि एक ही क्रम नीचे से ऊपर को गया है। यदि मनुष्य के द्वारा आविष्कार किये गये यन्त्रों को देखें तथा मनुष्य के प्रारम्भिक काल के जंगली अवस्था को भी देखें, तो भारी अन्तर मालूम पड़ेगा। यदि विकास-क्रम से देखेंगे, तो यह विषमता नहीं दीख पड़ेगी। यह

उन्नति क्रमशः हुई है। डार्विन ने पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता को नित्य माना है। जिसक परिणामस्वरूप बहुत-से धार्मिक लोगों को उनसे घृणा हो चली थी। यदि प्रतिद्वन्द्विता ही जगत् का स्वभाव होता, तो उपकार या सहानुभूति इस जगत् में कहाँ से आई। इस पर डार्विन कहता है कि सहानुभूति आदि गुण व्यक्तियों में अपनी रक्षा या जाति की रक्षा के लिए स्वार्थ-वश आ जाते हैं। शुद्ध निःस्वार्थ गुण कोई नहीं है। इसलिए सहानुभूति आदि गुण अपनी रक्षा के लिए ही हैं। इसके अलावा भी बहुत-से जानवरों में सहानुभूति आदि गुण मनुष्यों जैसे ही पाये जाते हैं। भाषा की भी उत्पत्ति क्रमशः विकास-सिद्धान्त के अनुसार ही हुई है।

ईश्वर के विषय में में डार्विन कहता था कि अगर ईश्वर होता, तो इस प्रकार की विषमताओं को वह नहीं बनाता। वह अपने ऊँचे ज्ञान के द्वारा उसे अपनी सुन्दर कल्पनाओं से अच्छा बना लेता।

डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त (Evolution theory) केवल जीवधारियों में ही लागू है। समस्त विश्व के लिए इस सिद्धान्त को शारीरिक विकासवाद (Biological Evolution) कहते हैं।

हमलोगों को डार्विन के जीवन-संग्राम (Struggle for existence) के सिद्धान्तों को प्रतिद्वन्द्विता के अर्थ में लेना चाहिए, न कि युद्ध के अर्थ में।

दार्शनिक विचारधारा तो समस्त विश्व के विधानों को समझने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार डार्विन का दार्शनिक सिद्धान्त अपूर्ण है।

———

बीसवीं शताब्दि के प्रत्ययवादी दार्शनिक

एफ० एच० ब्रेडले

ब्रेडले आजकल के प्रत्ययवादियों तथा निरपेक्षवादियों में सबसे प्रमुख हैं। इनका प्रमुख ग्रन्थ 'Appearance and Reality' है। इसमें प्रातिभासिक और वास्तविक सत्ता के विषय में विवेचन किय गया है। इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य संशय और जिज्ञासा को उत्तेजित करना है। परीक्षा के सामने अन्धविश्वास के आधार पर बनी हुई ईश्वर-विद्या (theology) तथा देहात्मवाद (Materialism) दोनों नहीं ठहर सकते। इन्होंने तत्त्व-ज्ञान की तीन परिभाषाएँ दी हैं। प्रथम—आभासिक सत्ता से अलग वास्तविक सत्ता का तत्त्व-ज्ञान। द्वितीय—मूल तत्त्वों का अन्तिम विवेचन। तृतीय—विश्व का खण्ड-खण्ड में न देख कर उसको पूर्णरूप से समझने का तत्त्व-ज्ञान। इसीलिए उक्त पुस्तक का नाम 'आभासित तथा वास्तविक सत्ता' पड़ा। इसके अनुसार दृश्य पदार्थ का वास्तविक सत्ता से अलग नहीं कर सकते। यदि अलग-अलग कर दिया जाय, तो उसकी पूर्ण व्याख्या हो नहीं सकती।

इन्होंने अपनी पुस्तक के पहले भाग में आयाम, विस्तार, अनेकता, गति, परिवर्त्तन, देश तथा काल आदि दृश्य पदार्थ-

विज्ञान की विवेचना कर उसकी अपूर्णता बतलाई है तथा दूसरे भाग में वास्तविक सत्ता की विवेचना की है।

ये कार्य-कारण के सिद्धान्त को नहीं मानते। ब्रेडले साहब दृश्य-सत्ता को विरोधात्मक सिद्ध करके वास्तविक सत्ता का विवेचन करते हैं। पूर्णता मुख्य गुण है। यह पूर्णता ऐसी है, जिससे दृश्य जगत् बाहर नहीं जाता, वरन् उसी में आ जाता है। स्वतन्त्र रूप से दृश्य जगत् अपूर्ण तथा असार है, पर ब्रह्म में सब विरोध तथा असारता का समन्वय हो जाता है। दृश्य ब्रह्म से बाहर नहीं है। ब्रह्म एक पूर्ण तथा सर्वव्यापक अनुभव है। ब्रेडले साहब के अनुसार परिमित का अपरिमित में लय हो जाता है, पर परिमित का नाश नहीं होता, वरन् उसी में मिलकर रहता है।

पर अब प्रश्न होता है कि वास्तविक सत्ता का ज्ञान हो कैसे ? वे कहते हैं कि विचार के द्वारा हम मुक्ति पा सकते हैं। पर वे तार्किक विचार को हटाकर स्फूर्ति या प्रतिभा को मान्यता देते हैं। यही ज्ञान वास्तविक ज्ञान है, और उसे ही शीघ्र और प्रत्यक्ष (Direct and Immediate) ज्ञान कहते हैं। इसी ज्ञान के द्वारा सभी जगह पूर्णता दिखाई पड़ती है। व्यष्टि में समष्टि की प्रतीति होती है। आजकल के भारतीय दार्शनिकों में इनका मत शांकर मत से मिलता है।

———

बर्ट्रेण्ड रसल

बर्ट्रेण्ड रसल वर्त्तमान युग के ब्रिटिश दार्शनिक हैं। वे हमारे सारे अनुभवों का विश्लेषण कर प्रकृति का मूल तत्व परमाणुओं के रूप में निश्चित करते हैं। विज्ञानवाद की समस्त बाहरी विविधता को मानसिक कहना ठीक नहीं है। ऐसा कहना तो विज्ञान को ही हास्यास्पद बना देना है। इनके सिद्धान्तानुसार दर्शन विज्ञान का अनुयायी हो सकता है, विज्ञान की जगह लेना उसका अधिकार नहीं। साथ-ही-साथ रसल भौतिकवाद के भी विरोधी हैं। जगत् का मौलिक तत्त्व शक्ति-तरंग या किरण-प्रसरण-स्वरूप में है। मूल तत्त्व न विज्ञान है और न भौतिक तत्त्व ही, वरन् अन-उभयतत्त्व है। रसल के अनुसार दर्शन जीवन के लक्ष्यों को निश्चित नहीं कर सकता, किन्तु वह दुराग्रहों, संकीर्ण दृष्टि के अनर्थों से हमें बचा सकता है। समस्त दृश्य-वर्ग कार्य-कारण शृङ्खलाओं में बँधे हुए हैं। वैज्ञानिक नियमों द्वारा कार्य-कारण-शृङ्खला से पीछे हटकर हम वस्तु के मौलिक स्वरूप को देख सकते हैं। वे मौलिक तत्त्व 'Matter' नाम से सम्बोधित करते हैं। उसी मौलिक तत्त्व से भिन्न-भिन्न वस्तुओं का निर्माण हुआ है। बर्ट्रेण्ड रसल ने मनुष्य को स्वतन्त्रता पर जोर दिया है। मनुष्य जड़ तथा असहृदय प्रकृति के बीच में पड़ा हुआ असहाय होकर विभिन्न प्रकार के दुःखों को भोगता रहता है। किन्तु मानव अपने ज्ञान से ऊँचा उठ सकता है। हमारी स्वतन्त्रता इच्छाओं के त्याग तथा विचार

को प्रधानता देने में है। हमें प्रतिकूल परिस्थितियों में भी आनन्दित होना चाहिए। संसार की आशाओं और इच्छाओं के त्याग में ही मानव की स्वतन्त्रता है। हमें दुःख सहते हुए भी अपने आदर्श तथा अपने मन के देवता की उपासना करते रहना चाहिए। मनुष्य के अधिकार से नहीं, वरन् इच्छाहीन विचार से जो मनुष्य को स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, उसकी महत्ता पर वे अत्यधिक जोर देते हैं।

वे कहते हैं कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य केवल पेट भर लेना तथा कपड़ा पहन लेना भर ही नहीं है किन्तु कला, विचार एवं स्नेह में अपने को भूल जाने में ही है। सौन्दर्य की रचना और कल्पना में रमना तथा संसार को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझना यही वस्तविकता है। आजकल वे एक नई पुस्तक लिख रहे हैं, जिसका नाम (Wisdom of the West) अर्थात् 'पश्चिम का विवेक' है।

———

राजनीतिक विकास में दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों की मान्यताएँ

मानवीय चेतना की तीन अवस्थाएँ होती हैं—ज्ञान, इच्छा तथा कर्म। ज्ञान के अनुरूप ही इच्छा तथा इच्छा के अनुरूप ही उसके कर्म होते रहते हैं। अतः मानव का बाहरी आचार उसके आन्तरिक विचारों का प्रतिफलन मात्र होता है। वह जैसा सोचता है, उसी के अनुसार उसके क्रिया-कलाप भी होते रहते हैं।

मध्ययुग में विज्ञान के नवीन आविष्कारों का धार्मिक अंधविश्वासों की मान्यताओं से जब संघर्ष होने लगा, तब सामन्तवादी ईसाई पादरियों के द्वारा वैज्ञानिकों पर नास्तिकता के दोषारोपण किये जाने लगे। उन वैज्ञानिकों पर बर्बर अमानुषिक अत्याचार होने लगे। यूरोप के वे दिन धार्मिक अत्याचार एवं उत्पीड़न के थे। पोप केवल धार्मिक सत्ताधारी ही न था, वरन् उसके पास राजनीतिक अधिकार भी रहता था। सन् १६०० ई० में ज्योनार्डो ब्रूनो को बाइबिल के विरुद्ध सिद्धांत का प्रचार करने के कारण चिता में जीवित ही जलाये जाने का दण्ड मिला। विज्ञानवाद के प्रवर्त्तक फ्रांसिस बेकन ने १६००वीं शताब्दि के प्रारम्भ में ही प्रकृति-अनुशीलन की वैज्ञानिक पद्धति का प्रतिपादन प्रारम्भ किया। उसने तत्कालीन पादरियों एवं उनके श्रद्धावाद की अत्यन्त ही भर्त्सना की। बाइबिल में ही

सब सत्य मौजूद है तथा उसके बाहर कुछ नहीं, पादरियों के इस् अंध-विश्वास, की उसने खूब ही निन्दा की। उसने कहा मनुष्य को अपनी बुद्धि में विश्वास करना चाहिए तथा बुद्धि-रूपी साधन से प्रकृति के नित्य नये-नये सत्यों का अनुसंधान करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए। विज्ञानवाद के इस दृढ़ बुद्धिवाद से मानव को अत्यधिक लाभ पहुँचा भी। पिछले चार सौ वर्षों में विज्ञानवाद से यूरोप का बौद्धिक विकास एक अद्भुत ढंग से हुआ है। विज्ञान का यह मुख्य सिद्धान्त था कि इन्द्रियानुभव के अतिरिक्त कोई सत्ता हमें स्वीकार्य नहीं है। प्रत्यक्ष इन्द्रियानुभव ही वास्तविक ज्ञान का स्रोत है।

पोप के अत्याचारों के होते रहने पर भी वैज्ञानिक प्रगतियाँ निरन्तर बढ़ती गईं। वाष्प-इञ्जिन के आविष्कार होने के फलस्वरूप विभिन्न रूपों से समुद्री जहाज बनने लगे जिससे समुद्री यात्रा सुगम होने लगा। विभिन्न नवीन स्थानों की खोज होने के कारण वहाँ उपनिवेश तथा साम्राज्यों की स्थापना होने लगी।

यूरोप के राजनीतिक इतिहास में बलशालियों का निर्बलों पर निरन्तर सर्वत्र अत्याचार होता रहा है। चर्च और राज्य में, चर्च तथा जन-साधारण में, राज्य और प्रजाजनों में, जमीन्दार और किसानों में सर्वत्र निरन्तर संघर्ष होते रहे। सब-के-सब अपने-अपने अधिकारों के लिए लड़ रहे थे। मानवीय नैतिक व्यवहार का ध्यान उस समय जाता रहा।

काल-क्रम से शोषित वर्ग जैसे कृषक, व्यापारी, कारीगर तथा जन-समूह, जिन्हें राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं था आपस में मिलकर जमीन्दार, राज्य तथा चर्च के विरुद्ध संगठित हो चले। उनके संगठित प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ज्यों ही उन्हें कुछ आधारभूत राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, त्यों ही वे लोग पृथक्-पृथक् स्थानीय दलों में विभक्त हो गये। जब समस्त यूरोप का पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई, तब प्रत्येक दल उस स्वतन्त्रता को अपने-अपने भौतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए उपयोग करने लगा जिसके परिणामस्वरूप उनके विभिन्न दलों में उस समय परस्पर कोई सहयोगात्मक संगठन असम्भव हो गया था।

क्रमशः जिस जन-समूह ने जहाँ राजनीतिक समानता की माँग की, वहाँ लोकतन्त्रवाद या जनतन्त्रवाद (डेमोक्रेसी) का प्रचार हुआ। जिस जन-समूह ने जहाँ स्वतन्त्र आर्थिक या व्यापारिक उत्साह से अनुप्राणित हो उद्योग का विस्तार किया, वहाँ पूँजीवाद (कैपीटलइज्म) ने अपना रूप लिया। जिसके परिणामस्वरूप यूरोप के अनेक देशों के निवासी अपने बहु-संख्यक प्रजा को अत्यन्त ही निर्धनता की स्थिति में पहुँचा दिया।

अट्ठारहवीं शताब्दि में फ्रान्स में भौतिकवादी प्रवृत्ति की वृद्धि तथा धर्म विरोधी विचारधारा की अधिकता के कारण अराजकता फैल गई। जर्मनी में उस समय शिक्षा की वृद्धि से आदर्शवादी विचारधारा प्रवाहित होने लगी थी। इन दोनों

विचारधाराओं के मध्य से ही कार्लमार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की उत्पत्ति हुई। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की उत्पत्ति पूँजीपतियों के बर्बरतापूर्ण अत्याचार के प्रतिक्रिया-स्वरूप ही हुई थी। धन और भूमि के लोभ से विभिन्न अज्ञात देशों का जहाजी-शक्ति से पता लगाकर वहाँ शासन तथा उपनिवेशों की स्थापना होने लगी थी, जिसके परिणामस्वरूप साम्राज्यवाद की स्थापना प्रारम्भ हुई। बुद्धि-प्रधान जर्मन जाति तथा धर्म-प्रधान इटालियनों के मन में दूसरी यूरोपियन जातियों के उपनिवेशों एवं साम्राज्य-विस्तार के प्रति इर्ष्या, डाह तथा जलन पैदा हुई। जर्मन तथा इटालियनों ने उनके उपनिवेश एवं साम्राज्य को नष्ट कर उनपर अपना अधिकार प्राप्त करने के लिए नाजिज्मवाद तथा फासिज्म-वाद को अपनाया। उपर्युक्त वादों के अतिरिक्त राष्ट्रीयता-वाद, उद्योगवाद, उपनिवेशवाद तथा साम्यवाद ये सब-के-सब अपने-अपने देश और काल में प्रमुख हो चुके हैं। आज भी वे अपनी पतनावस्था में हैं। विभिन्न परिस्थितियों में इसमें विभिन्न परिवर्त्तन होते रहे हैं। इतिहास से लाभ उठाते हुए पिछले अवगुणों एवं असफलताओं से वर्त्तमान मानव शिक्षा लेकर आगे बढ़ें, इसी में ऐतिहासिक ज्ञान की सार्थकता है।

वर्त्तमान समय में अन्तरराष्ट्रीयवाद का प्रचार तीव्र गति से बढ़ रहा है। आधुनिक काल में इसी के विकास से सब प्रकार की उन्नति की आशा की जा रही है।

वैज्ञानिक प्रवृत्ति की प्रगति के फलस्वरूप उस समय भिन्न-भिन्न संहारक यान्त्रिक आविष्कार हो चुके थे। यूरोप के समस्त शक्तिशाली देश विभिन्न संहारक यन्त्रों का निर्माण अत्यधिक रूप में आत्म-रक्षा के नाम पर करने लगे थे। भविष्य में चलकर जिसके परिणामस्वरूप दो भीषण विश्व-व्यापी युद्ध की यातनाओं को मानव भुगत चुका है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्त होने पर अब केवल दो वाद ही प्रमुख रूप से अन्य वादों को अपने में समाविष्ट कर रह गये है—पहला व्यक्तिवाद तथा दूसरा समूहवाद। एक व्यक्ति के महत्व पर जोर देता है, तो दूसरा समाज के महत्त्व पर। व्यक्ति के महत्त्व पर जोर देनेवाले कहते हैं कि व्यक्ति में अनन्त सम्भावनाएं छिपी हुई रहती हैं, जिन्हें आधिक अनुकूल परिस्थितियों से प्रस्फुटित कराया जा सकता है। व्यष्टिवादी दर्शन व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए अर्थ की आवश्यकता को मानता है। काण्ट का कहना है कि सम्पत्ति हमें इसलिए चाहिए कि वह हमारे व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए आवश्यक है। हेगेल के अनुसार सम्पत्ति स्वतंत्रता की प्रथम वास्तविकता है। ग्रीन सम्पत्ति को व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना के लिए आवश्यक समझते हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अनुकूलता के कारण ही वैज्ञानिक आविष्कारों को प्रोत्साहन मिला है। व्यक्तिगत सम्पत्ति से ही परिवार में प्रेम, दया, आविष्कारक भावना, स्फूर्त्ति आदि दैविक गुणों का विकास होता है। व्यक्तिगत

सम्पत्ति से मानव में निरापदता की भावना आती है, जिससे प्रभावित होकर मानव महान् कार्य करता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखकर अर्जन-शक्ति को बढ़ाया जा सकता है। स्पष्ट है, मानव अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर प्रयत्न तभी करता है, जब वह समझता है कि उसके परिश्रम से जो कुछ प्राप्त होगा, उसके उपयोग पर उसकी स्वतंत्रता अक्षुण्ण रहेगी। व्यक्तिगत स्वतंत्रता यदि सीमा में रही, तब तो वह व्यक्ति को प्रोत्साहित करती है, किन्तु सीमा से बाहर जाने पर वह अमानुसिक अत्याचार का कारण बन जाती है। सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिशासन राज्य को पूर्णतया एक शोषण-केन्द्र बना देता है, जिसके परिणामस्वरूप समाज के अन्तर्गत धनी और निर्धन का वर्ग-व्यवधान उपस्थित हो जाता है। उत्पादन और वितरण में असमान व्यवस्था होने से संघर्ष का कारण उपस्थित हो जाता है। यही कारण है कि सामन्ती अत्याचारों के प्रतिक्रियास्वरूप कार्लमार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को अपनाया।

यह स्पष्ट है कि व्यक्ति से बहुत ही निम्न स्तर पर समष्टि का स्थान वर्त्तमान-काल में रह गया है। समिष्टि अंधी, गूंगी और बहरी शक्ति का पुंज मात्र ही रहती है। वह चिन्तन से परे और कर्त्तव्याकर्त्तव्य से अलग रहती है, वह संवेगों (Immotion) से संचालित होती रहती है, जो क्षणिक होती है। जो समष्टि की कमजोरियों का ज्ञान रखते हैं और यह भी

जानते हैं कि समष्टि के चिन्तन-स्तर की ऊँचाई कितनी है, वे उसका उपयोग स्वच्छन्दतापूर्वक पहले भी करते रहे हैं तथा आज भी कर रहे हैं।

व्यक्ति अपने आप में अजेय है; क्योंकि परम्परागत अनुभव तथा ज्ञान का बल उसे उपलब्ध रहता है। समष्टि साधन मात्र है साध्य तो व्यक्ति ही है, अनन्त जन-सागर में पड़कर अपने अहम् का विकास करते जायँ, ऐसे महाप्राण व्यक्ति संसार में बहुत ही कम रहे हैं—जैसे श्रीकृष्ण, बुद्ध, शंकराचार्य महात्मा गांधी आदि। इन लोगों का अहम् अपने-आप में ही पूर्ण रहता है। वे सीमाओं के भीतर नहीं रह सकते हैं। व्यक्ति यदि समष्टि में अपने को झोंक भी देना चाहता है, तो अपने अहम् को यथाशक्ति सुरक्षित रखकर ही, यहीं पर नेतृत्व की भावना का जन्म होता है। समूह के सामने खड़ा होकर उपदेश देनेवाला उपदेशक है और समूह का नाम पड़ जाता है श्रोता। व्यक्ति अपने अहम् को अपनी महिमा के रूप में दर्शक बनकर देखने को व्यग्र रहता है। सामान्य से उपर उठकर प्रकाश-स्तंभ बनना व्यक्ति को सदा प्रिय होता है। फिर व्यक्ति छोटे-छोटे गिरहों, गुटों और दलों का निर्माण करके अपने को उनमें से किसी के साथ जोड़ लेता है।

ठीक इसके विपरीत, जो समस्त विश्व में छा जाने की शक्ति से बञ्चित हैं, वे अपने लिए दलों का निर्माण करते हैं। वे गुट या दल कभी-कभी अपना विस्तार करके उस व्यक्ति को पचा भी

जाते हैं, जो अपने अहम् को चरितार्थ करने के लिए उनका निर्माण करता है। कारण यह है कि वह गुट या दल फैलता जाता है, किन्तु उस अनुपात में उसका संस्थापक बराबर अपने को फैलाते जाने का ताकत नहीं रखता।

देखते-देखते वह अपने गुट या दल से छोटा बन जाता है और या तो भाग खड़ा होता है या उसके पेट में चला जाता है। किन्तु जो व्यक्ति अपने अहम् में पूर्ण आत्म-विश्वास रखते हैं, वे समस्त विश्व को भी बदलने की क्षमता अपने में रखते हैं।

सम्प्रति संयुक्तराज्य अमेरिका वैयक्तिक जनतन्त्रवाद का समर्थक है, तो सोवियत रूस सामूहिक जनतन्त्रवाद का। एक व्यक्ति के महत्त्व पर जोर देता है, तो दूसरा समाज के महत्त्व पर। यद्यपि दोनों वाद एक ही सत्य के दो पहलू हैं। दोनों परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों वादों के प्रस्फुटन से विश्व-बन्धुत्व के मार्ग में चाहे जितनी बाधाएँ उपस्थित हुई हों, पर इस बीसवीं शताब्दि के उत्तरार्ध में एक दूसरे के स्पर्धावश विज्ञान के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति ही हुई है। प्रारम्भ में जिस आदर्श को लेकर साम्यवाद की स्थापना हुई थी, वर्त्तमान में वह उसके सर्वथा विपरीत हो चला है। कार्लमार्क्स ने आर्थिक समानता पर अधिक जोर दिया किन्तु उसने प्रजातंत्रात्मक पद्धति को चुनौती नहीं दी है। अतः कार्ल मार्कस द्वारा प्रजातंत्र सुरक्षित था। प्रारंभ में साम्राज्यवाद के तत्कालीन दुर्गुणों के परिष्कारस्वरूप ही साम्यवाद की स्थापना हुई थी। किन्तु काल-

क्रम से साम्राज्यवाद के समस्त दुर्गुणों को वर्त्तमान साम्यवाद ने अपना लिया है। भूतकाल के श्वेत साम्राज्यवाद ने वर्त्तमान में रक्त साम्राज्यवाद का रूप धारण किया है। प्रारम्भ में श्वेत साम्राज्यवाद का दुर्गुण था—सत्ता का केन्द्रीकरण के साथ-साथ राज्य का सीमा-विस्तार। इस बीसवीं शताब्दि के उत्तरार्ध में साम्यवादी सिद्धान्त का भी यही प्रमुख कार्य रह गया है। आज साम्यवाद अधिनायकवाद तथा विस्तारवाद का प्रमुख प्रतीक बन कर विश्व के मानवीय चेतना का आक्रमक बन बैठा है। अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह की भावना को जाग्रत रखना प्रजातन्त्र का सर्वदा प्रमुख कार्य है। वैयक्तिक जनतन्त्रवाद तथा सामूहिक जनतन्त्रवाद इन दोनों वादों के मध्य से एक तीसरे प्रकार के जनतन्त्र का भारत में निर्माण हो रहा है। भारतीय जनतन्त्र व्यक्ति तथा समूह के परस्पर विरोधी स्वरूपों को स्वीकार नहीं करता। निरकुंश व्यक्तिवाद अथवा निरकुंश समूहवाद वास्तविक जनतन्त्र के सर्वथा प्रतिकूल है। हमें व्यक्तिवाद चाहिए तो समूहवादी व्यक्तिवाद चाहिए। और यदि समूहवाद चाहिए तो व्यक्तिवादी समूहवाद चाहिए। हमें ऐसा व्यक्तिवाद कदापि नहीं चाहिए जो समूह के हितों के प्रतिकूल हो। तथा हमें ऐसा समूहवाद भी नहीं चाहिए जो व्यक्ति के हितों के प्रतिकूल हो। मध्यम मार्ग ही आदर्श मार्ग है। साम्यवाद कहता है कि समूह के हितों की रक्षा के लिए व्यक्ति की हत्या की जा सकती है। पर भारतीय

सर्वोदय का सिद्धान्त कहता है कि प्रत्येक एवं समस्त अर्थात् व्यक्ति एवं समाज के हितों को सुरक्षित रखते हुए विश्व में प्रगति करना है। तात्पर्य यह है कि जनतन्त्र में सामञ्जस्य की नितान्त आवश्यकता है। वस्तुतः सामञ्जस्य ही जनतंत्र की आधारशिला है। भारतीय संस्कृति आदि-काल से ही समन्वयवादी रहा है तथा वर्तमान के विक्षुब्ध वातावरण में भी वह अपने गुणों को उद्घाटित कर विश्व का मार्ग-दर्शन करते हुए अग्रसर हो रहा है।

———

प्राचीन एवं अर्वाचीन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

कार्लमार्क्स अपने पूर्ववर्त्ती जर्मन दार्शनिक हेगेल की तत्त्व-मीमांसा से ही अत्यधिक प्रभावित हुआ था। हेगेल कहता है कि विरोध वह शक्ति है, जो पदार्थों को चालित करता है। विरोध कहा जाता है—पहली स्थिति में अस्तव्यस्तता उत्पन्न करना। हेगेल अपने तात्त्विक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को केवल विचार के क्षेत्र में ही सीमित रखा, किन्तु मार्क्स ने उसे समाज, संस्थाओं तथा विश्व के प्रत्येक क्षेत्रों में एक-सा ही प्रतिफलित होते बताया।

दार्शनिकों का महत्त्व इसी में है कि उसने जीवन और जगत् के सम्बन्ध में अपना कौन-सा विचार दिया। अर्थात्, जीवन और जगत् को उसने क्या समझा। जीवन और जगत् का विवेचन ही दार्शनिक निष्कर्षों की अन्तिम परिणति होता है।

भौतिकवादी दार्शनिक प्रत्यक्ष भौतिक द्रव्यों को ही अपने अनुसंधान का विषय मानते रहे हैं। भौतिकवादी कहते हैं कि निरीक्षण और परीक्षण से जब वर्तमान भौतिक द्रव्य ही अविनाशी (indestructible) तथा स्व-संचलनशील प्रमाणित हो रहे हैं, तब अप्रत्यक्ष कोई अन्य चैतन्य-सत्ता की कल्पना करने की आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है। कार्लमार्क्स भौतिक तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए कहता है—The matter is not production of consciousness

but the consciousness is merely the production of matter. अर्थात्, किसी चैतन्य सत्ता से पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हुई है, वरन् केवल भौतिक तत्त्वों के पारस्परिक सम्मिश्रण से ही चैतन्य की उत्पत्ति होती है।

आगे वह भौतिक द्रव्यों की गतिशीलता के सम्बन्ध में कहता है कि किस नियम द्वारा भौतिक द्रव्य चैतन्यता में परिणत होते रहते हैं। प्रथम है the Law of Transition of quantity into quality. अर्थात्, द्रव्य का अपने परिमाण से गुण में विकास का नियम। दूसरा—the Law of mutual penetration of opposite अर्थात्, द्रव्यों का पारस्परिक द्वन्द्वात्मक संघर्ष द्वारा एक दूसरे का मर्मछेदन करते हुए अग्रसर होने का नियम। तीसरा—the Law of negation into negation अर्थात्, नकारात्मक का नकारात्मक में विलयन का नियम।

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार कोई वाद (इज्म) अपने साथ प्रतिवाद को भी स्वयं उत्पन्न करता रहता है। अन्त में वाद तथा उसके प्रतिवाद आपस में ही संघर्ष कर निस्तेज बन जाते हैं। तभी साम्यावस्था की सम्भावना होती है।

कार्लमार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्राणियों में वर्त्तमान चेतना को भौतिक तत्त्वों से बाहर नहीं देखता। इस प्रसंग में भारतीय भौतिकवादी सिद्धान्त का दिग्दर्शन भी तुलनात्मक

ज्ञान के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगा। भारतीय भौतिकवादी दर्शन के आदि प्रणेता वृहस्पति कहे जाते हैं। प्राचीन वृहस्पति सूत्रों का ही दर्शन-काल में चार्वाक नामक भौतिकवादी दार्शनिक ने व्याख्याता के रूप में पुनरुद्धार किया था। तत्त्व-विवेचन करते हुए वृहस्पति-सूत्र कहता है—

पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि। तत्समुदाये शरीरेन्द्रिय-विषय संज्ञा। तेभ्यश्चैतन्यम्। चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः। काम एवैक पुरुषार्थः।

अर्थात्, पृथ्वी, जल, तेज और वायु यही चार तत्त्व नित्य हैं। इन्हीं तत्त्वों के समिश्रण से शरीर और इन्द्रियों की उत्पत्ति है। इन्हीं तत्त्वों के मिलने से चैतन्य की भी उत्पत्ति है। शरीर चैतन्य से युक्त रहने पर ही पुरुष कहा जाता है। तथा कामनाओं की पूर्ति ही पुरुषार्थ है।

भारतीय भौतिकवादी दार्शनिक चार्वाक् तथा कार्लमार्क्स के भौतिकवादी दर्शन में अधिकतर साम्य है। चार्वाक् भी चैतन्य की उत्पत्ति भौतिक द्रव्यों के पारस्परिक सम्मिश्रण से ही मानता है। वह कहता है जिस प्रकार कत्थ चूना दो तत्त्व हैं, किन्तु मिलने पर एक तीसरे ही लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है। मद्यहीन महुआ से जिस प्रकार मद्य-युक्त शराब बनाया जाता है, उसी प्रकार भौतिक द्रव्यों के सम्मिश्रण से ही चैतन्य की उत्पत्ति मानी गई है।

मार्क्स के अनुसार जगत् के भौतिकवादी रहस्य को मानवीय इन्द्रियों द्वारा समझा और अनुभव किया जा सकता है। मार्क्सवाद के अनुसार आत्मा और परमात्मा केवल विश्वास की वस्तु है। इसके अनुसार मनुष्य को ईश्वर के काल्पनिक भय से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है। वह कहता है कि काल्पनिक भगवान् के भय से मनुष्य को यदि न्याय के मार्ग पर चलाया जा सकता है, तो उसी नियम के आधार पर समाज की सम्पन्न श्रेणियाँ भगवान् के यहाँ से ही गरीबों का शासक बनाकर भेजी गई हैं, यह भी समझाया जा सकता है। इसके अनुसार आध्यात्मिकता एवं धर्म-विश्वास सम्पन्न मनुष्यों का गरीबों के शोषन के लिए एक निश्चित विधान मात्र है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा के अन्तर्गत ईश्वर की सत्ता मान लेने पर मनुष्य के आत्मविश्वास, महत्त्वाकांक्षा आदि उन्नति की सम्भावनाओं पर ही रोक लग जाती है। ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना मार्क्स के अनुसार मानसिक दासता का अभ्यास करना है। वह मनुष्यों की बुद्धि, चेतना तथा मन को भौतिक तत्त्वों से बना मानता है। प्राणियों की प्रवृत्ति तथा गति उसके अपने समाज के संस्कार के अनुसार ही बनती है। मार्क्स की दृष्टि में दर्शन-शास्त्र का अध्ययन और चिन्तन की उपयोगिता केवल संसार की स्थिति जानने के लिए ही है। दार्शनिक अध्ययन से मानव को अधिक से अधिक लाभ कैसे हो यही देखना चाहिए। मार्क्स के अनुसार प्राणियों

के जीवन में सबसे अधिक महत्व है जीवन-रक्षा के प्रयत्नों का।

भारतीय भौतिकवादी चार्वाक् दर्शन भी कहता है—यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्। ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत। भस्मभूतस्य शरीरस्य पुनरागमनः कुतः॥ जब तक जीवो सुख से जीवों यदि ऋण लेकर भी घी पीना हो तो पीवो क्योंकि शरीर के भस्मीभूत हो जाने पर वह जीव आता कहा है।

यूरोपियन भौतिकवादी दार्शनिक कार्लमार्क्स तथा भारतीय भौतिकवादी दार्शनिक चार्वाक् दोनों की दृष्टि भौतिक तत्वों के कार्यवाहियों से दूर नहीं जाती। क्या यह समस्त सृष्टि प्रक्रिया अनायास भौतिक तत्वों का संगठन मात्र ही है? क्या इसमें सृष्टिकर्त्ता के निश्चित विधान एवं सौन्दर्य कुशलता देखी नहीं जाती? प्राणियों की वाह्य चेतना की उत्पत्ति तो भौतिक द्रव्यों से ही होती है 'भूतानामस्मि चेतना' (गीता)।

भौतिक द्रव्य तो उस क्षेत्रज्ञ का केवल क्षेत्र मात्र है। क्षेत्रज्ञ जैसा बीज अपने क्षेत्र में डालेगा क्षेत्र वैसा ही उसका रूप उत्पन्न करेगा। गीता कहती है इच्छा, द्वेष, सुखं, दुःखं, संघात श्चेतना धृतिः, एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारं उदाहृतम्। अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दुख संघात तथा चेतना तथा धैर्य सब के सब भौतिक तत्वों के ही कार्य हैं।

यदि मनुष्य अपने आत्माहंकार एवं अपने वातावरण से ऊपर उठ कर निर्णय करे तो वह भौतिक तत्त्वों के रहस्य को परिच्छेदन कर सकता है। मानव में निर्माण का एक ऐसा

रहस्य है जो उसे भौतक तत्त्वों के रहस्य को जानने योग्य बना दिया है। यदि हम परिस्थिति से प्रभावित हो आत्मिक शक्ति को छोड़ देते हैं तब हमारी अवोन्नति होने लगती है किन्तु जब आत्मिक शक्ति से अनुप्राणित हो जाते हैं तब समस्त विश्व को भी अपने संकल्प के नवीन आदर्श ढाल सकने में भी समर्थ बन जाता है।

मानव जाति के दार्शनिक इतिहास को देखने से पता चलता है कि आध्यात्मवादी तथा भौतिकवादी विचार-धारा प्राचीन काल से ही विभिन्न रूपों से प्रवाहित होते हुए क्रमशः आ रहा है। आध्यात्मवाद ही शनैः शनैः वर्तमान यूरोपियन विचार में मनोविज्ञान नाम से कहा जाने लगा है। अतः अध्यात्मवादी विचार धारा श्रेय की प्राप्ति कराती है क्योंकि वह विश्वव्यापी दृष्टिकोण से विचार करती है। इसके विपरीत विचार धारा प्रेय की तरफ ले जाती है जो इन्द्रिय सुखों को ही सब कुछ समझता है। आदर्शवाद से आत्मिक आनन्द प्राप्त होता है। भौतिकवाद से इन्द्रिय सुख। आदर्शवाद जगत् के अन्तिम तत्त्व को विश्व व्यापी चैतन्य सत्ता के रूप में अविनाशी मानता है।

आत्मवादी दार्शनिक समस्त विश्व में एक निश्चित विधान द्वारा अणु परमाणुओं को शासित होते देख रहे हैं। सृष्टि संचालन के प्रत्येक विधान में अत्याधुनिक वैज्ञानिक द्वारा सर्वोच्च चैतन्यता देखी जा रही है।

अत्याधुनिक वैज्ञानिक प्रगतियाँ

विभिन्नताओं में एक अभिन्न तत्त्व का दर्शन 'ज्ञान' कहा जाता है। किन्तु, वही एक अभिन्न तत्त्व विभिन्न रूपों में अपने को किस पद्धति द्वारा अभिव्यक्त करता है, उसी को जानना 'विज्ञान' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, सब वस्तुओं के व्यवस्थित ज्ञान को 'विज्ञान' कहा जाता है। 'विज्ञान' वह विद्या है, जिससे पदार्थों के क्रियात्मक नियम, उनका एक निश्चित विधान एवं व्यवस्था का विशेष ज्ञान होता है।

प्रारम्भ में वैज्ञानिक बुद्धि की सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ आकाश के नक्षत्र, ग्रह-मण्डल तथा पृथ्वी-तल की नदी, पहाड़, वनस्पति, पशु आदि तक ही सीमित थीं। विज्ञान द्वारा इन्द्रियों और बुद्धि के साधन से अत्यन्त परिश्रमपूर्वक ज्ञान अर्जित किया जाता है। विश्लेषण पर विश्लेषण करता चला जाता है तथा बड़े सुन्दर और सूक्ष्म भेदों को प्राप्त करता है। विज्ञान ने मानव को एक प्रकार की सामान्य नियमबद्ध स्वतन्त्रता प्रदान की है। प्रकृति की भयावनी शक्तियाँ आज मानव की क्रीत दासियाँ बन गई हैं। मानव के लिए यह गौरव तथा वैभव वैज्ञानिकों की चिर कालीन अखण्ड प्रकृति-सेवा तथा तपस्या की देन है। विज्ञान को वैशेषिक-सूत्रों में अदुष्ट विद्या कहा गया है। अर्थात्, विज्ञान के नियमों में अन्तर नहीं आता। मानव प्रकृति के उन रहस्यात्मक नियमों को जानकर उससे लाभ उठाता है।

भौतिक विज्ञान प्रकृति के रूपों तथा उसके क्रियाओं का अध्ययन करता है। प्रकृति के मौलिक द्रव्य अपने को तीन रूपों से व्यक्त करते हैं। वे द्रव्य ठोस, तरल तथा गैसीय हैं। ठास पदार्थ के अणु निरन्तर एक दूसरे के निकट रहना चाहते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप ठोस पदार्थों के विस्तार एवं आकार स्थित-से मालूम पड़ते हैं। तरल पदार्थ के अणुओं में परस्पर एक दूसरे से अधिक स्नेह नहीं रहता। वे सीमाओं के अन्दर अपने स्थान को बदलते रहते हैं। तरल द्रव्यों के क्रिया का फल यह होता है कि इनका परिमाण तो स्थित होता है, परन्तु आकार स्थित नहीं होता। पानी को आप जिस पात्र में डालें, उसी पात्र के आकार को वह धारण कर लेता है।

गैस के अणु एक दूसरे से जितनी दूर जा सकें, जाना चाहते हैं। गैसीय द्रव्य का न विस्तार निश्चित रहता है और न आकृति ही। प्रकृति की क्रिया गति के रूप में होती है।

भौतिक विज्ञान (Physics) वह विज्ञान है, जो पदार्थ का विश्लेषण कर उसके नियमों का अध्ययन करता है। भौतिक विज्ञान के ही अन्तर्गत गति के नियम, ताप के नियम, प्रकाश (Light) के नियम, शब्द के नियम तथा बिजली और चुम्बक के नियम आते हैं। पानी के दबाव के नियम जानकर विभिन्न रूपों में उसका उपयोग किया जा रहा है। जैसे हाइड्रो एलेक्ट्रिक आदि। बाष्प के प्रसारण तथा संकोचन के नियम

जानकर बाष्प इञ्जिन (Steam Engine) बनते हैं। बिजली और चुम्बक के नियम जानकर हम बिजली के अद्भुत चमत्कार विभिन्न रूपों में दिखलाते हैं। प्रकाश के नियम जानकर हम दूरवीक्षण यन्त्र द्वारा अरबों-खरबों मील दूर-स्थित ग्रहों की दूरियों को नापते हैं। विभिन्न प्रकार की नई वस्तुओं बनाने को आविष्कार (Invention) कहा जाता है तथा किसी नियम के द्वारा प्रकृति के गुप्त रहस्यों को जानने, तारा एवं ग्रहों का पता लगाने को अनुसन्धान (Discovery) कहा जाता है। जब कोई वाद (theory) अनुभव से प्रमाणित हो जाता है, तब उसे नियम (Law) कहते हैं।

विज्ञान मूर्त्त तथा अमूर्त्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं। अमूर्त्त पदार्थों में, जैसे मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, राजनीति-विज्ञान आदि होते हैं। मूर्त्त पदार्थों में, जैसे ज्योतिर्विज्ञान (Astronomy) तथा पदार्थ-विज्ञान आदि हैं।

रसायन-शास्त्र में वस्तुओं की आन्तरिक रासायनिक बनावट की ओर ध्यान दिया जाता है। वस्तुओं को विश्लेषण करके उनके रासायनिक तत्त्व बतलाये जाते हैं। साथ-साथ उन तत्त्वों के आपस के मिश्रण के भी नियम बतलाये जाते हैं।

रसायन-शास्त्र से भी बढ़कर जीव-विज्ञान है, जिसमें प्राणी एवं वनस्पति दोनों का ही अध्ययन सम्मिलित है। भौतिक-शास्त्र तथा रसायन-शास्त्र के नियमों के आधार पर बहुत-कुछ वैज्ञानिक उपलब्धियाँ प्राप्त की जा चुकी हैं। जितने वैज्ञानिक

आविष्कार हुए हैं, वे प्रायः भौतिक एवं रासायनिक विज्ञान के आधार पर ही हुए हैं। तार, टेलीफोन, बिजली का उत्पादन दूरवीक्षण-यन्त्रों का निर्माण, रेडियो, टेलीविजन आदि सब-के-सब भौतिक विज्ञान के ही चमत्कार हैं। रबर, पेन्ट, साबुन तेल, औषधियाँ आदि रसायन-शास्त्र पर अवलम्बित हैं।

वनस्पति-शास्त्र (Botany) के द्वारा हमलोग वनस्पति के रहस्यों को जानते हैं। वनस्पतियों में भी जीवन-शक्ति है। समय-समय पर वनस्पतियों के दृश्य परिवर्त्तिन हाते रहते हैं। वसन्तकाल की यौवनावस्था, ग्रीष्म की आक्रान्तता, मध्याह्न की प्रफुल्लता कितना गूढ़ रहस्य अपने में रखती हैं, यह वनस्पति-शास्त्र से जान सकते हैं।

चिकित्सा-शास्त्र का बहुत-कुछ सम्बन्ध जीव-विज्ञान तथा रसायन-शास्त्र से रहता है। विगत दो सौ वर्षों में विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई है। विशेष रूप में यन्त्र-विज्ञान मानव को अधिक-से-अधिक सुविधा प्रदान कर सका है। विज्ञान का अर्थ केवल यान्त्रिक प्रयोग ही नहीं है, वरन् बुद्धि में निहित प्रकृति के रहस्य को वैज्ञानिक साधन के माध्यम से यन्त्रों का आविष्कार भी है।

यन्त्र तीन प्रकार के होते हैं। एक है समय साधक यन्त्र, जैसे—घड़ी, वायुयान, रेल, मोटर आदि। दूसरा है घातक यन्त्र, जैसे—टैंक, रैकेट, मशीनगन, ब्रेनगन आदि तथा तीसरा

है, उत्पादक यन्त्र, जैसे—विभिन्न वस्तुओं के उत्पाद यान्त्रिक मीलें, कृषि-यन्त्र आदि।

इस बीसवीं शताब्दि के उत्तरार्ध में विज्ञान की गति अत्यधिक तीव्र हो चली है। मानव अन्तरिक्ष से ही जेटर वायुयान तथा अन्तर महाद्वीपीय रैकेट द्वारा विश्व-परिक्रमा कर रहा है। अन्तर-महाद्वीपीय तथा अन्तर ग्रहीय निक्षेपास्त्रों के प्रयोग से आज की वैज्ञानिक प्रवृति अत्यधिक प्रभावित हो रही है।

विज्ञान ने मानव की आँख एवं कान की शक्ति को यन्त्रों द्वारा अत्यधिक बढ़ा दिया है। वह कई हजार मील दूर के शब्द एवं चित्र समाचार तथा संगीत आदि को रेडियो तथा टेलीवीजन द्वारा सुन देख रहा है। उसकी आँखों की ज्योति इतनी अधिक बढ़ गई है कि कई हजार मील दूर की दृश्यावलियाँ उसके दूरवीक्षण-यन्त्र द्वारा सामने प्रत्यक्ष हो रही हैं। आप दूरवीक्षण यन्त्र के द्वारा आकाश की अन्तरग्रहीय दूरी तथा अत्यन्त दूर-स्थित नक्षत्रों के धूँधले प्रकाश को देख सकते हैं। इस यन्त्र से विभिन्न ग्रहों पर चैतन्य के लक्षण भी देखे जा रहे हैं। पदार्थ-विज्ञान में यहाँ तक अनुसंधान हुए हैं, कि जिस वस्तु को हमलोग गतिहीन तथा ठोस एवं स्थित जानते थे, वह आज के भौतिक विज्ञान द्वारा उसके, अणु-परमाणु तीव्रतर गतिमान दिखलाई दे रही है। आज परमाणु की अपरिमित-शक्ति मानव के हाथ में आ चुकी है। फिर भी

उसमें अत्यधिक-विकास की आवश्यकता है। सृष्टि-प्रक्रिया में सापेक्षिता के सिद्धान्त सर्वत्र देखे जा रहे हैं। अणु परमाणु के रहस्य एलेक्ट्रोन तथा प्रोट्रोन के गति-विज्ञान द्वारा स्पष्ट हो रहे हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञान पदार्थ के मौलिक स्वरूप के रहस्य को स्पष्ट करते हुए कहता है—पदार्थ शक्ति तरङ्ग (Cosmic Vibation) के समुच्चय-रूप है विज्ञान के अध्ययन के लिए एकाग्रता एवं परिश्रम की आवश्यकता होती है। साथ ही साथ, कल्पना और वैज्ञानिक रुचि भी आवश्यक है। विज्ञान प्रत्यक्ष ठोस-वस्तु के आधार पर ही कल्पना का महल खड़ा करता है। जब तक वह अपनी कल्पना को प्रयोगों द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं करता, तब तक वह विश्राम नहीं लेता। वैज्ञानिक किसी बात को केवल विश्वास पर आधारित करके संतुष्ट नहीं होता, वरन् उसका प्रत्यक्ष प्रमाण चाहता है।

विज्ञान हमारी बुद्धि को बढ़ाता है तथा हमारी मानसिक शक्तियों में स्फूर्ति उत्पन्न करता है। भय और निराशा को दूर करने में विज्ञान अत्यधिक सहायक हुआ है। विज्ञान ने धर्मान्धता को दूर किया है। यह कहना कि विज्ञान के प्रचार से धर्म को क्षति पहुँची है, भ्रामक है। विज्ञानवाद ने धर्म के वास्तविक रूप को उसी प्रकार से शुद्ध कर दिया है, जिस प्रकार अग्नि से तप कर सोना। विज्ञान के द्वारा प्रकृति अपने रहस्य की सत्यता को मानव के समक्ष उद्घाटित करती रही है। किन्तु, मानव उन्हें जानकर उसका सदुपयोग करता है

या दुरुपयोग, यह उसके प्रयोग पर निर्भर करता है। यदि सदुपयोग किया तो धरती ही स्वर्ग बन जा सकती है, किन्तु दुरुपयोग करने पर रौरव नरक तुल्य।

आधुनिक वैज्ञानिक प्रगतियों के फलस्वरूप विश्व के विभिन्न देश एवं उसके विभिन्न वादों से प्रभावित जीवन-पद्धतियाँ समन्वित होकर एक हो रही हैं। मानवीय विश्व-चेतना आज जागरित हो चुकी है। आज प्रत्येक देश के वैज्ञानिक विध्वंसक अस्त्रों के निर्माण में अपने ही अस्तित्व का विध्वंस देख रहे हैं।

विज्ञान की प्रगति के परिणाम-स्वरूप ही आज पूर्वीय और पश्चिमीय जगत् के भू-भाग एक हो रहे हैं। पूर्व और पश्चिम का विचार तो केवल भौगोलिक विचार है। यातायात एवं संवाद-वहन के अत्याधुनिक जो वैज्ञानिक साधन उपलब्ध हुए हैं, वे देश और काल के बन्धनों को तोड़ चुके हैं। वर्तमान युग में अन्तर्राष्ट्रीय विषमताओं के रहते हुए भी विश्व की विभिन्न विचार धाराएँ वैज्ञानिक उपलब्धियों के परिणाम-स्वरूप समन्वित होकर एक बन रही हैं। आधुनिक युग में सार्व-भौमिक मानवीय वैज्ञानिक चेतना एक होकर अन्तरग्रहीय संबंध स्थापना के लिए प्रयत्नशील है।

१६वीं शताब्दि से मनोविज्ञान के उदय के साथ ही साथ मानवीय व्यक्तित्व का भी प्रश्न उठ रहा है। तभी से यूरोपियन

मानव यह सोचने लगा है कि अपने जीवन का तथ्य एवं सत्य क्या है।

विज्ञान यह नहीं जानता कि इस सृष्टि-प्रक्रिया के प्रकाशन में कुछ रहस्य भी है या अनायास ऐसे ही उत्पन्न हो गई है। गीता कहती है कि इस ब्रह्माण्ड का आदि और अन्त अव्यक्त है। हमलोग मध्य की स्थिति देख रहे हैं। विज्ञान का सम्बन्ध इसी मध्य स्थिति की 'यथास्यात् तथैव' वर्णन से है, न कि आदि और अन्त के विश्लेषण से। आधुनिक अमेरिकन मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स का मानवीय व्यक्तित्व सम्बन्धी विचार देखने योग्य है, उसने बड़े सुन्दर ढंग से पहले तो सारे अनुभव गम्य स्वभाव का विश्लेषण किया। परन्तु, उसके सामने प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि हमारे इन सब विचारों का अन्तिम विचारक कौन है? आत्मा तो अन्तिम सत्तात्मक होने के कारण विज्ञान की परिधि से पृथक् माना जा रहा है। इसलिये उसने यही सिद्धान्त स्वीकार करना अधिक सुगम समझा कि विचार ही स्वयं विचारक भी है (Thought themselves are the thinker.)

वर्तमान में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के मानवीय व्यक्तित्व सम्बन्धी विचार भिन्न-भिन्न हैं। व्यवहारवादी मन की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। परन्तु, इसके विपरीत जुङ्ग (Jung) नामक मनो-वैज्ञानिक ने अपनी एक नवीन पुस्तक (The integration of the Personality) में मानवीय व्यक्तित्व पर गम्भीर-

गवेषणपूर्ण विचार उपस्थि किये हैं। जन्म-जात प्रवृत्तियाँ (Heredily) या वाह्य प्रभाव या अन्य कोई भी धारणा हमारे व्यक्तित्व को पूरा-पूरा नहीं समझा सकती। युङ्ग के सिद्धान्त का यह निश्चित परिणाम है। विश्व प्रपञ्च के आधार भूत कुछ ऐसी सत्ता अन्त में माननी पड़ेगी, जिसे हम जान नहीं पाते। इसीलिए वह उसे (Something irrational) कुछ तत्त्व बुद्धिगम्य नहीं है, ऐसा वर्णन करता है। वास्तव में आधुनिक पश्चिमी मनोविज्ञान की यह पराकाष्टा है। यह स्थिति अपूर्व सौन्दर्य वाली है। इन्द्रियाँ और बुद्धि केवल दृश्य-जगत् (Phenomena) तक ही पहुँच रखती है।

अदृश्य स्व-स्वरूप की सत्ता(Noumena) तक तो विज्ञान की गति ही नहीं है। ए० सैथ प्रिङ्गिल पैटीसन (A sethe pringle petheson) ने अभी (The idea of God in the light of Recent philosophy) अर्थात् नवीन तत्त्वज्ञान के आलोक में ईश्वर का विचार नामक पुस्तक लिखी। अपने ग्रन्थ में इन्होंने बतलाया है कि प्रकृतिवाद अपूर्ण को पूर्ण मान लेता है; और यही उसका दोष है। वास्तव में सारा संसार एक विश्व शक्ति का प्रसार है। भौतिक पदार्थ भी उसी विश्व-शक्ति का विकास है। मनुष्य उसी शक्ति की अभिव्यञ्जना है। मनुष्य प्रकृति के बाहर नहीं है, वरन् प्रकृति की ही विस्तार है। मनुष्य के द्वारा प्रकृति अपने को जान लेती है। मनुष्य प्रकृति का

मस्तिष्क या विचार-शक्ति है। मानव मस्तिष्क द्वारा प्रकृति की वास्तविक स्थिति का अनुमान होता है।

मानवीय व्यक्तित्व का आन्तरिक सत्य जो विज्ञान के लिए एक समस्या उपस्थित करता है, योगानुभव के माध्यम से वह परम तत्त्व प्रत्यक्ष हो जाता है। योगानुभव जहाँ गम्भीर मानवीय व्यक्तित्व के शरीर, प्राण और मन के बाह्य कोशों को भेदता हुआ जब आगे बढ़ता है तब एक अवस्था में चेतन आनन्द-स्वरूप आत्मा को प्रत्यक्ष करता है। व्यक्ति उस अवस्था में स्वतः प्रकाशमान विभु परमात्मा का एक अंग और अंश अनुभव करता है। आत्मा और परमात्मा एक ही आत्म तत्त्व के लघु और विभुस्वरूप होता है। मनोविज्ञान के लिये मन जो अन्तिम सत्य है, साधक को तब प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि मन वास्तव में स्वयं जड़ है; अर्थात् अपने आप में चेतन नहीं, वह तो आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होता है।

आज आत्मा है, या नहीं इसपर स्वभावतः ही बहुत सन्देह उपस्थित हो गया है। यह शंका भी पश्चिम के विज्ञानवाद की देन है। किन्तु, अत्याधुनिक विज्ञानवाद की चरम पराकाष्ठा इन्द्रियगोचर दृश्त तत्त्वों के परे एक सत्ता का अनिवार्य संकेत दे रहा है। योग की गम्भीर अनुशीलन और अनुभवपूर्ण शैली द्वारा आत्मतत्त्व का परम सत्य प्रत्यक्ष हो जाता है।

———

भारतीय संस्कृति के समन्वयवाद की विशिष्टता

ग्रह-मण्डल की अनन्तता में हमारी पृथ्वी सौर-मण्डल का एक सदस्य है। अन्तरिक्ष में अनन्त ग्रह-मंडल अपने-अपने वृत्त पर निरन्तर प्रवाहित हो रहे हैं। अत्याधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों के द्वारा वैज्ञानिक पदार्थ के अतिसूक्ष्म अंश परमाणुओं में भी वही कार्यवाही देख रहे हैं, जो अनन्त अन्तरिक्ष के ग्रह-मण्डल के सञ्चालन में। पृथ्वी पर बहुत-सी विचित्र वस्तुओं एवं प्राणियों का अस्तित्व विभिन्न रूप से वर्त्तमान है। विश्व के विभिन्न विचित्र प्राणियों में केवल मानव में ही सम्यक रूप से वास्तविकता को जानने की क्षमता है। विज्ञान के नवीनतम उपलब्धियों द्वारा पृथ्वी का मानव अन्य ग्रहों पर चैतन्यता के लक्षण देख रहे हैं, यद्यपि वे अभी पूर्ण प्रमाणित नहीं हुए हैं। लेकिन एक ग्रह जो पृथ्वी रूप से हमलोगों के सामने प्रत्यक्ष है, उसके एक प्राणी में जानने की आश्चर्यजनक विलक्षण शक्ति है। पृथ्वी के विभिन्न प्राणियों में मानव ही अपनी वैज्ञानिक प्रवृत्ति की उपलब्धियों द्वारा अन्य ग्रहों की दूरियों को नापता है, जो अरबों-खरबों प्रकाश वर्ष (लाइट इयर) एक दूसरे से दूर हैं। जबकि प्रकाश प्रति सेकेण्ड एक लाख छियासी हजार मील की गति से चलता है। एक प्रकाश वर्ष से एक खरब मील समझना चाहिए। मानव यह जानता है कि इस पृथ्वी पर लाखों वर्ष पूर्व कौन-कौन सी

घटनाएँ घटी थी। वह भौतिक द्रव्यों की शक्ति-प्रसरण-प्रक्रिया की क्षमता को भी जानता है। मानव ही अपने विज्ञान के अत्याधुनिक प्रयोगों के परिणाम-स्वरूप पदार्थ के सबसे सूक्ष्म अंश परमाणु में अपरिमित शक्ति के स्रोत प्राप्त कर चुका है। यद्यपि यह पूर्ण रूप से निश्चित कहा नहीं जा सकता कि ये परमाणु शक्ति मानव का उपकारक होगा या संहारक। पृथ्वी के विभिन्न प्राणियों में मानव ही ऐसा एक प्राणी है, जो उस परम नियन्ता के मनस्तत्व को भी जानने की इच्छा करता है, जिनसे यह सृष्टि-प्रक्रिया प्रारम्भ हो अपरिमित शक्ति का प्रसारण कर रही है। वस्तु की यथाथ ज्ञान-प्राप्ति के लिए मानव को प्रकृति द्वारा दो साधन दिये गये हैं। प्रथम है हृदय की शक्ति, जिसे भिन्न-भिन्न देशों ने विभिन्न नामों से सम्बोधित किया है। जैसे अन्तर्ज्ञान, (intuition) प्रतिभा, अनुभववाद तथा प्रज्ञामूलक प्रवृत्ति आदि। मानव को प्रकृति प्रदत्त दूसरा साधन उसके मस्तिष्क की बौद्धिक-शक्ति है, जिससे तर्क-वितर्क द्वारा बुद्धि में प्रकाश उत्पन्न होता रहता है। विज्ञान की उत्पत्ति बुद्धि में निहित नैसर्गिक प्रकाश के ग्रहण द्वारा ही होती है। बुद्धिवादियों का कहना है कि ज्ञान की उत्पत्ति अनुभव से नहीं होती है। अनुभव बुद्धि की सृष्टि नहीं करता वरन् बुद्धि में विकास का अवसर देता रहता है। अतः बुद्धिवादियों के अनुसार सार्वभौमिक सत्य बुद्धि के प्रकाश द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। बुद्धि मानव को प्रकृति की देन है जिसे पाकर वह जन्म ग्रहण

करता है तथा अनुभव द्वारा अपने मानसिक क्षितिज को विस्तारित करता रहता है। परन्तु, केवल बुद्धि का विकास मानव को शुष्क एवं हृदयहीन बना मानवता का ही संहारक बन जाता है। जब हृदय मस्तिष्क पर विजय प्राप्त करता है, अन्तर की कोमल भावनाएँ तभी जागरित होती हैं। स्नेह बन्धुत्व तथा मनुष्यत्व को मुखरित होने का अवसर तभी प्राप्त होता है। इसके विपरीत जब मस्तिष्क हृदय को पराजित कर देता है, तब स्वार्थान्धता, दाव-पेंच तथा कुटिलता जैसे दुर्गुण निःशङ्क हो ताण्डव करने लगते हैं।

इस लिए मानना पड़ेगा कि सुख एवं शान्ति के लिए चाहे वह व्यक्तिगत जीवन में हो, चाहे राष्ट्रीय जीवन में और चाहे अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में मस्तिष्क के क्रिया-कलापों पर हृदय की विजय आवश्यक है। मस्तिष्क पर हृदय की विजय तभी होती है, जब जीवन में नैतिकता की प्रधानता होती है। जब अध्यात्म हमारे विचारों तथा निर्णयों पर नियन्त्रण बनाए रखता है। यही नैतिकता या अध्यात्म विश्व बन्धुत्व का सरल तथा सच्चा मार्ग है।

आज विज्ञान ने मनुष्य को अत्यधिक स्वार्थी तथा दम्भी बना दिया है। जब तक विज्ञान की उच्छृङ्खलता पर विश्व व्यापी नैतिकता का प्रभावपूर्ण नियन्त्रण नहीं लगाया जायगा, तब तक वह अपनी आसुरी स्वेच्छा-चारिता दिखाता ही रहेगा।

आधुनिक विज्ञान ने प्रगतिशील सभ्यता के साधनों का विकास किया है, किन्तु विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय का ह्रास। सभ्यता तथा संस्कृति में आधारभूत भेद होते हैं। शभ्यता शरीर है, तो संस्कृति आत्मा। सभ्यता बाहरी चीज है, तो संस्कृति भोतरी चीज। सभ्यता भौतिक विकास का लक्षण है, तो संस्कृति आध्यात्मिक विकास का। मोटर, रेल, तार, वायुयान, रेडियो, टेलीविजन आदि सभ्यता के विकास के निदर्शक हैं। झूठ-सच, ईमानदारी-बेईमानी, संतोष-असंतोस, संयम-असंयम ये सब के सब संस्कृति को उन्नति या अवनति के निदर्शक हैं। हो सकता है कि कोई देश ऐसी संस्कृति को ही अपनाये, जिसमें असत्य, अन्याय, असंतोष, संयम हीनता ही आधारभूत तत्त्व हों, किन्तु ऐसे को सुसंस्कृति नहीं कही जा सकती। इसके विपरीत जो मानव संस्कृति के क्षेत्र में अहिंसा, सत्य, न्याय, अस्तेय ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को आधार बनाकर चलेंगे, वे एक विशिष्ट प्रकार को संस्कृति का जन्म देंगे। इन दोनों पद्धतियों के विकास के क्षेत्र का नाम संस्कृति ही होगा। एक उच्च संस्कृति तथा दूसरी निम्न संस्कृति। एक व्यक्ति पैसे वाला है उच्ची अट्टालिकाओं में रहता है, पाँच दश नौकरे हैं घर में। टेलोविजन लगा है। किन्तु, वह व्यक्ति पहले दर्जे का मध्यावादी, बेईमान, दुराचारी और मद्यपायी है, उस स्थिति में वह सभ्य है, सुसंस्कृत नहीं। उसके पास सभ्यता है संस्कृति नहीं। यदि उसके पास कोई संस्कृति है भी, तो वह

उच्च संस्कृति नहीं, दैवी संस्कृति नहीं, निम्न संस्कृति आसुरी संस्कृति है; क्योंकि वह अहिंसा के स्थान में हिंसा को, सत्य के स्थान में असत्य को स्थापित करती है। यह हो सकता है कि कोई देश भौतिक दृष्टियों से बहुत ऊँचा हो, वहां विज्ञान के समस्त आविष्कार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुके हो। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से शून्य हो। वहां मोटरें तो हों, परन्तु मोटरों पर बैठ कर डाके डालते हों, वायुयान हों, किन्तु उनसे अणु बम या हाइड्रोजन बम मानव पर गिराये जाते हों, टेलीविजन हो, किन्तु उससे पाशविक कामुकता का प्रचार किया जाता हो। ऐसी अवस्था में उस देश की सभ्यता ऊँची परन्तु, संस्कृति नीची कही जायेगी। यह हो सकता है कि एक देश भौतिक दृष्टि से अनुन्नत स्तर में हो, परन्तु आत्मिक दृष्टि से अत्युन्नत स्तर में। उस देश के निवासी दूसरे के दुःख से दुःखी होते हो, दूसरे के कल्याण के लिए अपने स्वार्थों को तिलांजलि देते हो। असत्य, अन्याय, दुराचार से दूर रहते हों। वे मोटरों के बदले बैल गाड़ियों में चलते हों। ऐसे भी देश विश्व-भू-भाग पर हो सकते हैं, जो भौतिकता को गौण तथा आध्यात्मिकता को प्रमुख स्थान देते हो। विश्व-भू-भाग में ऐसी भी जातियां हैं, जिन्होंने निरक्षर होते हुए भी, सृष्टि-प्रक्रिया के गूढ़तम रहस्य को उद्घाटित करना स्वभावतः अपनी संस्कृति से सीखा हो। जो आध्यात्मिकता की विशिष्टता तथा भौतिक आकृति की क्षण भंगुरता तथा उसकी परिवर्तन शीलता

का विश्लेषण करने में निसर्गतः निष्णात हों। वे महलों के बदले झोपड़ों में रहते हों।

सभ्यता को संस्कृति की रक्षा के लिए छोड़ा जा सकता है, किन्तु संस्कृति को सभ्यता की रक्षा के लिए नहीं छोड़ा जा सकता। संस्कृति सार्वभौम वस्तु है; क्योंकि भाव तथा विचार सार्वभौम होते हैं। हां, अवश्य ही आचार प्रायः सार्वभौम नहीं होते। किसी के आचार कुछ होते हैं तो किसी के कुछ। अतएव, भौगोलिक, साम्प्रदायिक आदि विभिन्न दृष्टियों से संस्कृति के विभिन्न भेद कर लिए गये हैं। इसी भेद के कारण भारतीय संस्कृति को अभौतिक वादी कहा जाता है। भारत भौतिकता को प्रधानता नहीं देता, वरन् प्रधानता देता है अध्यात्मिकता को। हमारा आज का भारत विश्व में सम्मानित क्यों हो रहा है? सभ्यता के साधनों में भारत पिछड़ा हुआ है, फिर भी इसका विश्व में बड़ा सम्मान है। इसका प्रधान कारण यह है कि इसके पास संस्कृति की अजर अमर धरोहर है। भौतिक साधनों से अत्यधिक उन्नत न होते हुए भी वह अतिथि—सत्कार तथा शान्ति-प्रेम में सब से आगे रहता है। क्योंकि, ये दोनों गुण भारत की साधनों द्वारा, नहीं वरन् अनवरत साधना के द्वारा प्राप्त हुए हैं। सभ्यता शरीर की अभिव्यक्ति होने के कारण अमरत्व की उपलब्धि नहीं कर पाती। भारत इसीलिये अमर है कि वह संस्कृति प्रधान है। भारत ने शरीर और आत्मा दूसरे शब्दों

में सभ्यता और संस्कृति के समन्वय एवं सामजस्य की साधना की है। आज अमेरिका और रूस में मनुष्य का पर्याप्त बौद्धिक विकास हुआ है। वहाँ धन की वृद्धि तथा वैज्ञानिक अनुसंधान अत्यधिक हुए हैं। भौतिक वैज्ञानिक अनुसंधान तथा उसके असाधारण कार्य क्षमता की अनियन्त्रित वृद्धि का ही परिणाम है कि आज संसार सर्वनाश के द्वार पर खड़ा है।

शांति-रक्षा के लिए संसार के सभी प्रमुख व्यक्ति आज उद्योगशील हैं। जितनी ही शांति-रक्षा का प्रयत्न हो रहा है, लड़ाई की तैयारी भी उतने ही जोरों से हो रही है। संसार में शब्दों द्वारा सद्भावना के प्रचार के साथ-साथ हार्दिक द्वेष-भावना की वृद्धि भी होती जा रही है। भौतिक रूप से अमेरिका, यूरोप और रूस की सभ्यताओं में कोई अन्तर नहीं है। साम्राज्यवादी या साम्यवादी जीवन में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। दोनों शुद्ध भौतिकवादी संस्कृति हैं। भौतिक सुख के साधन उत्पन्न करना ही दोनों का चरम लक्ष्य है।

पाश्चात्य सभ्यता ने अपने पड़ोसि देशों को विगत दो विश्व युद्ध के दवाग्नि में झुलसाया है। मनुष्य का धर्म पड़ोस से ही प्रारम्भ होता है। यदि भारत के आदर्शों के अनुसार समाज का निर्माण करना चाहते हैं, तो हमें पारस्परिक भावना का निर्माण करना होगा, पड़ोस से प्रेम करना होगा तथा प्रेम करना सीखना भी होगा। उनके सुख-दुःख को परस्पर बाँट कर चलना होगा। जीवन का सच्चा सुख इसी में है।

भारतीय सभ्यता का आधार वस्तु नहीं, वरन् मानवीय नैतिक मूल्यों का संस्थापन रहा है। मनुष्य में, मनुष्यत्व कितना है, उसमें मानवता कितनी है—इस माप-दण्ड से जीवन का स्तर मापने वाली भारतीय सभ्यता विश्व में अन्यतम है।

भारतीय संस्कृति ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक काल से ही अपने में अनुपम समन्वयवादी विशेषता रखती आई है। इस संस्कृति के तीन मौलिकगुण रहे हैं:— प्रथम है अध्यात्मिकता, दूसरा है ग्रहणशीलता तथा तीसरा है क्रियाशीलता। भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता अधिक प्रभावशाली रही है। भारत में न जाने, कितनी संस्कृतियों का आगमन एवं उसका संरक्षण हुआ, इसका लेखाजोखा कठिन है। यहाँ आर्य, अनार्य, द्रविड़, चीनी, शक, हूण, पठान, मुगल, ईसाई, न जाने, कितनी जातियों के लोग इस विशाल एवं उदार संस्कृति में समाविष्ट होकर सहिष्णुतापूर्वक सुख-शांति से रह रहे हैं।

अनेकता में एकता का समन्वय ही भारतीय संस्कृति की अनुपम विशेषता रही है। भारतीय तत्व-ज्ञानियों ने प्रारम्भ से ही बाहरी विभिन्नता के भीतर आन्तरिक साम्यता को पूर्णरूप से पहचान लिया था। जितने धार्मिक झगड़े और सामाजिक कलह विश्व के भू-भाग पर हुए हैं वे केवल धर्म के बाहरी रूपों की ओर ध्यान देने का ही विषमय फल है। यदि मानव का ध्यान बाहरी विभिन्नताओं से हट कर भीतरी

साम्यता की ओर जाय, तो विश्व में इतना वैमनस्य, गृह-कलह रक्तपात होने की सम्भावना नहीं रह सकती।

'दर्शन' शब्द का अर्थ दर्शनेन्द्रिय, अर्थात् आँख होता है। अतः, दर्शन-शास्त्र के सम्यक अध्ययन से मनुष्य को एक नई आँख मिल जाती है। सम्यक्-दर्शन के द्वारा विभिन्न दार्शनिक मतों तथा साम्प्रदायों में एकता स्पष्टतया दिखने लगती है। "देश-देश के वेश वेश में अपने को छिपाये हुए बहुरुपिया मित्र को एक सच्चा दार्शनिक पहचान ही लेता है। वेद कहता है कि 'मित्रस्य चक्षुषा पश्येम।' पात्र के रंग-रूप भले ही भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के हों, पर उसमें रक्खा हुआ जल एक ही रुप का होता है। दीपक भिन्न-भिन्न धातुओं तथा भिन्न-भिन्न आकारों का भले ही बने हों, परन्तु उसकी प्रभा एक ही रुप की होगी। गायों के अनेक रंग रूप होने पर भी उसका दूध एक ही श्वेत रंग का होता है। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों तथा धर्मों के आचारों में भिन्नता प्रतीत होने पर भी उसके भीतर एक अपरिवर्तनीय एकता की धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है।

भारत से ही विश्व के अन्य भू-भागों को प्रथम-प्रथम धर्म, विज्ञान, मानवता एवं आचार की मौलिक प्रेरणा मिली थी। वेदान्त का अद्वैत-ज्ञान जब मध्य एशिया में पहुँचा तब वहां के मनीषियों ने अद्वैत-ज्ञान के प्रेम-रस का पान कर आनन्द विह्वल हो उठे। महात्मा मंसूर ने 'अहम् ब्रह्मास्मि' को

'अन्हलक' के नाम से सम्बोधित किया। मध्य एशिया से यूरोप में भारतीय संस्कृति का अद्वैत-ज्ञान पहुँचा। उस समय भारत के बौद्ध प्रचारक विश्व के अधिकांश भू-भागों में मानवता की शिक्षा का प्रचार कर रहे थे। यह सर्व-विदित है कि बौद्ध-धर्म से ही प्रेरणा पाकर यूरोप में ईसाई धर्म की स्थापना हुई थी। अर्थात् ईसाई-धर्म बौद्ध सांचे में ही ढ़ला है। किंबहुना, भारत का आध्यात्मिक-ज्ञान ने ही विभिन्न धर्मों का परिधान पहन विश्व के मानव में वास्तविक मानवता के विस्तार का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

सम्प्रति, भौतिक विज्ञान से विक्षुब्ध विश्व की मानवता की सतृष्ण दृष्टि इस आध्यात्मिक भूमि भारत पर सतत लगी हुई है कि अध्यात्म-प्रधान भारत जिसने, वर्त्तमान युग में भी विलक्षणता पूर्वक अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त किया है, भौतिक विज्ञान की दुर्धर्ष शक्तियों का अपनी मौलिक परम्परा से किस प्रकार समन्वय स्थापित करता है। भौतिक-शक्ति के विनाश के इस आणुविक युग में मानव आत्म-संहार से अपने को बचाने में तब तक समर्थ नहीं होगा जब तक वह मानव के साथ अहिंसा के वर्त्ताव करने का अभ्यासी नहीं बनेगा। गम्भीर उत्तेजना के सम्मुख भी भारत को अहिंसा का पालन करना होगा। भारत को विश्व के सम्मुख अहिंसा का उदाहरण प्रस्तुत करने के सम्बन्ध में अपने इतिहास के तीर्थङ्कर महावीर, बुद्ध तथा गांधी जी के प्रति दायित्व है। भारत के उपर एक बहुत बड़ा

आध्यात्मिक उत्तरदायित्व है। केवल भौगोलिक-दृष्टि से ही भारत का महत्वपूर्ण स्थान नहीं है वरन् इस विसवीं शताब्दि के उत्तरार्ध में भी विश्व के दो प्रतिद्वन्दी आदर्शों के व्यापक स्पर्धा में भारत सन्तुलन का काम करता है।

अतः आज के समय की यह प्रमुख एवं अत्यावश्यक माँग यह है कि भारत भौतिक-विज्ञान के दुर्धर्ष एवं पाशविक शक्तियों को मानवता के दुःख-दारिद्र्य तथा अशिक्षा को दूर करने में ही नियुक्त करे। अपनी नैतिकता एवं मानवता के आधार पर विभिन्न धर्मों में समन्वयवादिता एवं सहिष्णुता के द्वारा भारत विश्व-बन्धुत्व का स्थायी आधार स्थापित करे, तभी वह आज अपनी संस्कृति का वास्तविक प्रतिनिधित्व कर सकता है। हम भारतवासियों में मानव जाति के प्रति प्रेम की भावना होनी चाहिए तथा वह भावना मानव जाति के किसी विशिष्ट समुदाय के प्रति नहीं, वरन् समग्र मानव-समुदाय के प्रति होना आवश्यक है। हमें अपने आत्म-ज्योति को विश्व-ज्योति में विस्तृत कर देखने का अभ्यासी बनना होगा तभी 'एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति' तथा 'सोऽहम्' के अद्वैत ज्ञान को क्रियात्मक रूप में परिणत कर सकते हैं। हम लोग तभी अपने पूर्वजों की खाई हुई गरिमा को पुनः स्थापित करने में समर्थ हो सकते है।

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवा सर्वे। ब्रह्म जेष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान्कामान्समश्नुत इति।

—तैत्तिरीय उपनिषद्

ब्रह्म की चित्त-शक्ति ही बुद्धि के साथ तदरूप हुई समस्त महान कर्मों का विस्तार करती है। विज्ञान प्रेरित बुद्धि से ही भौतिक कर्मों का विस्तार होता है। सम्पूर्ण देव अर्थात् व्यष्टि एवं समष्टि इन्द्रिय समुदाय—सर्वश्रेष्ठ विज्ञान-ब्रह्ममय की ही सेवा करते हैं। यदि कोई विज्ञान-स्वरूप आत्मा को ही ब्रह्म समझता है तथा उसके चिन्तन में प्रमाद नहीं करता, तब वह देहाभिमान को पार कर समस्त वांछित इच्छाओं को प्राप्त कर सकता है।

व्यष्टि केवल दुर्बल-मनोविशिष्ट, सुख-दुःख समन्वित, देश कालावस्था परिच्छिन्न एकमात्र जीव ही नहीं है। वह तत्त्वतः ब्रह्म है। उसकी चित्तसत्ता मौलिक रूप में विश्वव्यापी है। सभी मानव, सभी प्राणियों, तथा सभी जड़-पदार्थों की सत्ता उसकी चित सत्ता के साथ नित्य एकीभूत है। भारतीय महान दार्शनिकवादों ने व्यष्टि तथा समष्टि जीवन को चिन्तनशील एवं विचारशील बना कर आध्यात्मिक उत्कृष्टता की ओर विश्व को प्रवृत कर रक्खा था। भारतीय पदार्थ-विज्ञान पराकाष्ठा को पार कर चिद्विज्ञान, आध्यात्म-विज्ञान, नित्य तत्त्व-विज्ञान, अमृत-विज्ञान, आत्म-विज्ञान का अनुसंधायक रहा है। विज्ञानमानन्दम् ब्रह्म। वृहद्वारण्यकोपनिषद्।

अतः आधुनिक आणविक युग की यह अत्यावश्यक मांग है कि भौतिक विज्ञान की दुर्धर्ष शक्तियों पर आध्यात्मिकता, धर्म, तथा नैतिकता के द्वारा नियन्त्रण होना अत्यावश्यक

हो गया है। सुख, शान्ति एवं समृद्धि की वृद्धि तभी सम्भव है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है :—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूर्तिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

अर्थात्, जहां अध्यात्मिक तत्त्ववेत्ता योगेश्वर के द्वारा तत्कालीन विज्ञान की समस्त उपलब्धियां निर्देश पाकर सञ्चलित होने के लिए तत्पर हों वहीं श्री, विजय, समृद्धि होती है यही निश्चित सनातन विधान है।

———